123

...कराया गया। उन लोगोंने अपनी संस्तुति भी प्रदान कर दी है। फिर भी न जाने ... पर उतारू हैं।

मेडिकल असोसिएशन

लालगंज (आजमगढ़)। मेडिकल असोसिएशन लालगंजका वार्षिकोत्सव डा.सुभाष चन्द्र गुप्तकी अध्यक्षतामें हुआ। जिसमें संगठनको मजबूत बनाने पर बल दिया गया। उक्त अवसर पर ही वर्ष ८८ के सर्वश्री ओ.पी. राय अध्यक्ष, डा.एम. उपाध्याय सचिव, मोहन विश्वकर्मा कोषाध्यक्ष चुने गये।

...यों का आतंक

...र। चुनार तहसीलके अंतर्गत ...में नीलगायोंकेबढ़ते आतंकसे ... हदशत है।

...ला है कि खेतोंमें खड़ी फसलोंके थे ... गये हैं। ये खेतमें बोये मटर गेहूं, ... चर जाते हैं।

...नेगा

...ार कई घटनाएं हो जायंतो ... माना जाना चाहिये। लेकिन ...देहातके बड़े क्षेत्रमें छिटपुर ...एं हो जाती हैं तो तुरंत लोग ...चिल्लाने लगते हैं। अपराधतो ... रुक नहीं सकते। कम हों यह ...ा रहती हैं।

...ीन पुलिस कर्मियोंके खिलाफ ...के जवाबमें उन्होंने बताया कि ... अनियमितता और ...ा बरतने वाले कर्मियोंके ...ई हुई। भविष्यमें भी इस पर ...ा हर संभव प्रयास किया ... इतना जरूर है कि पुलिसको

क्रम संख्या | कार्य का नाम

5. विद्युत विहार टाऊनशि... एक मब स्टेशन इक्विपमें... की सप्लाई, डिलिवरी, स्थापना, जाँच तथा चाल... करने का कार्य

अन्य सभी नियम व शर्तें जो टैंडर...

पी आर सी /टी.एन.-46/87/शु...

29-1-1988 को गंगटोक में नि... लाटरी के 129वें...

FIRST PRIZE (1) Rs...

SECOND PRIZE (1) Rs...

THIRD PRIZE (3) Rs. 25,000/- ea...
N-265628

FOURTH PRIZE (6) Rs. 5,000/- ...
N-208793 N-762489 O-9...

FIFTH PRIZE (300) Rs. 500/- each in all series)
84730 45070 07458 51083

SIXTH PRIZE (3,000) Rs. 50/- ...able in all series)
1042 9974 5441 1402

SEVENTH PRIZE (3,000) Rs. 2... applicable in all series)

[माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश द्वारा स्वीकृत]

गद्य-पारिजात

[इण्टर की कक्षाओं के लिए गद्य-संग्रह]

सम्पादक

डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, वल्लभ विद्यापीठ, वल्लभनगर

तथा

गंगाप्रसाद मिश्र

बी० ए० (आनर्स), एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रधानाचार्य, राजकीय हायर सेकेण्डरी स्कूल, सुल्तानपुर

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी बुक डिपो, लखनऊ

[मूल्य २ रु० २० पैसा

१९६५]

राष्ट्रीय गान

जनगणमन-अधिनायक जय हे
भारत - भाग्यविधाता।
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा
द्राविड़ उत्कल बंग
विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा
उच्छल जलधि तरंग,
तव शुभ नामे जागे,
तव शुभ आशिष मागे,
गाहे तव जय गाथा।
जनगण मंगलदायक जय हे
भारत - भाग्यविधाता।
जय हे, जय हे, जय हे,
जय जय जय, जय हे॥

मुद्रक
रामेश्वरदयाल दीक्षित
हिन्दुस्तानी आर्ट-काटेज, लखनऊ

इस पुस्तक में ५१ × ७६ के आकार का १२·६ किग्रा० सफेद देसी कागज लगाया गया है।

प्राक्कथन

"गद्य-पारिजात" नामक यह गद्य-संकलन उ० प्र० बोर्ड की इण्टर-मीडिएट कक्षाओं के लिए तैयार किया गया है। बोर्ड ने छात्रों के वाञ्छित ज्ञान-स्तर को लक्ष्य में रखकर पाठ्य-क्रम में जिन विशिष्ट बातों का अनिवार्यतः उपस्थित होना स्थिर किया है, उन सभी बातों को पूर्ण रूप से ध्यान में रखा गया है। चुनाव ऐसे ही लेखकों का किया गया है जो हिन्दी-गद्य की समृद्धि व विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और जिनकी लेखन-शैली साहित्य-क्षेत्र में अपनी निजी विशेषताओं के कारण अत्यन्त सम्मानित समझी जाती है। निबन्धों के चयन में विषय की विविधता, रोचकता, निरूपण की स्पष्टता, वाञ्छित स्तर की अनुरूपता एवं उगते स्वतंत्र राष्ट्र के छात्रों की नयी पौध में सच्चरित्रता, सेवा, त्याग, कर्त्तव्यपरायणता, श्रम के प्रति प्रेम व सम्मान आदि उच्च गुणों का उन्मेष और विकास आदि बातों को आद्यंत ध्यान में रखा गया है। इसके अतिरिक्त निबन्ध-रचना के तीन प्रमुख भेदों—वर्ण-नात्मक, विचारात्मक और भावात्मक—से भी विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए उक्त प्रकार के श्रेष्ठ उदाहरण-स्वरूप लेख रखे गये हैं। परिपूर्णता की दृष्टि से यात्रा, संस्मरण, आविष्कार, स्वस्थ हास्य आदि से सम्बन्धित लेख भी संकलित किये गये हैं। इस प्रकार संकलन को विविध दृष्टियों से सर्वांगपूर्ण बनाने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है।

संकलन के आरम्भ में 'हिन्दी-गद्य का विकास' नामक एक परि-चयात्मक भूमिका भी लेख-रूप में दे दी गयी है, जिससे कि विद्यार्थी पूर्वापर सम्बन्ध क्रम से लेखकों व उनकी रचनाओं के मूल्य तथा महत्त्व का अनुमान लगा सकें। सम्बन्धित लेखकों की शैली के विशिष्ट गुणों

का संक्षेप में दिखलाते हुए प्रत्येक लेखक पर स्वतंत्र टिप्पणियाँ भी यथा-स्थान जोड़ दी गयी हैं। विद्यार्थियों के लाभ की दृष्टि से प्रत्येक पाठ के अन्त में 'अध्ययन' दे दिया गया है, जिसमें केन्द्रीय विचारधारा को दिग्दर्शित करने वाली मार्मिक समीक्षा, शब्दार्थ तथा शैली और विषय सम्बन्धी स्वतंत्र तुलनात्मक प्रश्न आदि दे दिये गये हैं।

अन्त में हम उन सब लेखकों व प्रकाशकों के हृदय से आभारी हैं, जिनकी रचनाओं अथवा प्रकाशनों का हमने उपयोग किया है।

—सम्पादक

विषय-सूची

आभार

इण्डियन प्रेस (प्रा०) लि०, इलाहाबाद के अध्यक्ष श्री हरिप्रसन्न घोष ने 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'उत्साह' पाठ की अनुमति निःशुल्क प्रदान करने की महती कृपा की है।

—प्रकाशक

दिल्ली में मुसलमानी सत्ता की स्थापना के कारण उस क्षेत्र की बोलचाल की भाषा शिष्ट समुदाय की शिष्ट व्यावहारिक भाषा का रूप ले रही थी। सबसे पहले उसी भाषा को काव्य में प्रयुक्त करने का श्रेय एक मुसलमान कवि अमीर खुसरो को है। अमीर खुसरो की कुछ पहेलियों और मुकरियों में खड़ी बोली का अधिक निखरा हुआ प्रारम्भिक रूप लक्षित होता है। वैसे तो खड़ी बोली का एक रूप अपभ्रंश काव्यों में देखा जा सकता है। भोज और हम्मीरदेव तक खड़ी बोली का यह अपभ्रंश मिश्रित रूप ही विकसित होकर कबीर-पंथ की 'सधुक्कड़ी' भाषा में अवतरित हुआ है। खुसरो के समकालीन संत कबीर की यह भाषा स्पष्ट ही गद्य के एक निश्चित विकास की ओर संकेत करती है—

"कबिरा मन निरमल हुआ जैसे गंगा नीर"

मुगलकाल में खड़ी बोली-गद्य का निश्चित विकास होता रहा है, यह बात अकबर के दरबारी कवि गंग के 'चन्द छंद वर्णन की महिमा' नामक ग्रंथ से स्पष्ट है। यद्यपि उसकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है; किन्तु फिर भी उस समय की भाषा को उर्दू की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वह खड़ी बोली-गद्य की ही एक शैली है।

मुगल-शासन के उत्तरार्द्ध तथा भक्तिकाल के अंतिम चरण से हिन्दी काव्य का 'रीतिकाल' प्रारम्भ होता है। इस काल में एक बार फिर से ब्रजभाषा का मोह कवियों पर छा गया और खड़ी बोली-गद्य का विकास रुक-सा गया। अँगरेजों के आगमन के समय से फिर खड़ी बोली-गद्य का विकास प्रारम्भ होता है। सं० १७९८ में रचित रामप्रसाद निरञ्जनी का 'भाषा योगवाशिष्ठ' खड़ी बोली गद्य की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। उसकी संस्कृतमय परिष्कृत भाषा और स्पष्ट शैली इस बात की साक्षी है कि सदासुखलाल और लल्लूलालजी से लगभग ६० वर्ष पूर्व भी खड़ी बोली के गद्य का विकास एक निश्चित दिशा में हो रहा था। इस पुस्तक के गद्य का संस्कृतमय होना इस बात का प्रमाण है कि पहले खड़ी बोली का आधुनिक काल की फारसी-अरबीमय उर्दू से कोई सम्बन्ध नहीं था,

जैसे कि कुछ लोग सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार 'रामप्रसाद निरञ्जनी' गद्य के प्रथम प्रौढ़ लेखक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। श्रृंखलावद्धता, सौष्ठव और व्यवस्थित प्रौढ़ शैली उनकी भाषा की विशेषता है। सं० १८२३ में पण्डित दौलतराम ने जैनियों के धर्म-ग्रन्थ 'पद्मपुराण' का अनुवाद प्रस्तुत किया; किन्तु बाद की कृति होने पर भी उसकी भाषा में उस परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते जो कि 'योगवाशिष्ठ' में थे। सं० १८३० और १८४० के मध्य में कोई विशेष विकास नहीं हुआ। हाँ, एक छोटी-सी बोल-चाल की भाषा में लिखी पुस्तक "मंडोवर का वर्णन" मिलता है। उसकी भाषा में साहित्यिकता का एक प्रकार से अभाव है; किन्तु गद्य-परम्परा के क्रमिक विकास के दर्शन में उसका भी अपना एक स्थान है।

सं० १८०० के लगभग भारत में अँगरेजी शासन का प्रारम्भ होता है और सं० १८५० तक वह एक स्थिर शासन का रूप धारण कर लेता है। उस समय तक समस्त उत्तर-भारत की सामान्य व्यवहार की भाषा खड़ी वोली थी और उसका एक विशुद्ध रूप जन-साधारण में प्रचलित था। हाँ, कुछ मुसलमान अवश्य उस भाषा को अरवी-फारसी के शब्दों के भार से लाद कर एक नवीन रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे, जिसने आगे चलकर 'उर्दू' की संज्ञा धारण की। अँगरेजों को शासन के सामान्य कार्य को सुचारु-रूप से चलाने के लिए इसी देश की एक भाषा का सहारा लेना अनिवार्य था। वे उसकी कमी का अनुभव कर रहे थे। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, देश में उनको इस समय बोलचाल की भाषा के दो रूप मिले थे। एक तो साधारण जन की शिष्ट संस्कृतमय खड़ी बोली और दूसरी फारसी-अरवी के शब्दों से लदी उर्दू। अँगरेजों को स्पष्ट पता था कि इस देश की भाषा उर्दू नहीं है, वरन् सरल और स्वाभाविक खड़ी बोली है, जिसमें संस्कृत के शब्दों को भी स्थान दिया गया है। इस कारण अँगरेजों ने खड़ी वोली-गद्य की पुस्तकों के निर्माण के लिए कलकत्ते में सन् १८६० में 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना की। कालेज में उर्दू और हिन्दी को

पढ़ाने की व्यवस्था पृथक्-पृथक् की। हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष जॉन गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से अनेक लेखकों ने पुस्तक-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। वहीं से हिन्दी गद्य के प्रथम निर्माता 'लेखक-चतुष्टय' का आविर्भाव होता है।

हिन्दी-गद्य का विकास फोर्ट विलियम कालेज से प्रारम्भ हुआ है, इस आधार पर कुछ लोगों का मत है कि खड़ी बोली गद्य का विकास अंग्रेजों की प्रेरणा का ही परिणाम है; किन्तु इस बात में तनिक भी तथ्य नहीं है। जो लोग 'भाषा-योगवाशिष्ठ' और 'पद्मपुराण' की भाषा से परिचित हैं, उनको यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा कि खड़ी बोली का गद्य स्वयं विकास की एक परम्परा का परिणाम है, अंग्रेजों की देन नहीं। हाँ, इतना मानना आवश्यक है कि अंग्रेजों ने उसके विकास में एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। सं० १८६० के लगभग हिन्दी गद्य के चार प्रारम्भिक स्तम्भ हमारे सामने आते हैं। इन चारों महानुभावों के प्रयत्नों से हिन्दी-गद्य की स्वाभाविक उन्नति का मार्ग खुल गया। इनमें से दो—मुन्शी सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ तो स्वतन्त्र रहकर ही साहित्य की साधना में लीन थे। शेष दो—लल्लूलाल जी और सदल मिश्र 'फोर्ट विलियम कालेज' के आश्रय में रहकर कार्य कर रहे थे।

१—मुंशी सदासुखलाल 'नियाज'—अपनी स्वतन्त्र प्रेरणा से मुंशीजी ने 'सुखसागर' की रचना की है। चारों लेखकों में आपकी भाषा-शैली सर्वोत्तम और परिष्कृत है। मुंशीजी ने अपनी रचना के लिए उन दिनों की हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा को ही अपनाया। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने भविष्य की भाषा के एक सामान्य रूप का निरूपण कर दिया है। वे स्वयं पूर्व-प्रदेश के थे, इस कारण उनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग 'होयगा,' 'आवता,' 'जावता,' आदि भी मिलते हैं। उनकी शैली में पंडिताऊपन की स्पष्ट झलक है। इसी संस्कृत-मिश्रित भाषा को, जिसे उर्दू वाले 'भाखा' के नाम से पुकारते थे, मुंशीजी ने अपनाया था। वे स्वयं फारसी-अरबी के विद्वान् होकर भी भाषा की विशुद्धता के पक्षपाती थे। संस्कृतमय भाषा के प्रयोग के उठ

जाने पर उनके हृदय को कितनी वेदना हुई थी, वह इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

"रस्मो-रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।"

२—इंशाअल्ला खाँ—इंशा की प्रसिद्ध कहानी "रानी केतकी की कहानी" का समय सं० १८५५ और १८६० के मध्य है। इंशाअल्ला उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान् और शायर थे। उनकी मस्तमौला और स्वच्छंद प्रकृति के दर्शन हम उनकी भाषा में पाते हैं, 'हिन्दवी छुट और किसी बोली की पुट न' का आदर्श लेकर उन्होंने अपनी कहानी लिखी है। न तो वे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के पक्षपाती थे और न संस्कृत-निष्ठ हिन्दी के; वरन् मध्यम वर्ग की सामान्य बोलचाल की ठेठ हिन्दी में ही गद्य लिखने के पक्षपाती थे। उनकी शैली में चटक-मटक और मुहावरों का प्राधान्य है। शुक्लजी के शब्दों में वे रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना कौशल दिखाना चाहते थे। इतना सब कुछ होते हुए भी उनके वाक्यों का विन्यास और रचना-शैली हिन्दी के सर्वथा अनुकूल नहीं है। उस पर फारसी का प्रभाव है। शायर होने के कारण उनकी भाषा में अनुप्रास और तुक का आग्रह भी प्रबल है। "आतियाँ, जातियाँ, जो साँसें हैं" आदि का प्रयोग हमें सर्वत्र मिलता है। उनका सबसे बड़ा महत्त्व उनकी रचना के विषय की नवीनता और मौलिकता है।

३—लल्लूलाल—लल्लूलालजी का 'प्रेमसागर' भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर रचा गया है। उनकी भाषा कथावाचक व्यासों की भाषा के मेल की है। उनकी बोली में अपने निवास-स्थान के प्रभाव के कारण ब्रजभाषा का प्रभाव है। उनको भाषा की सजावट का पूरा-पूरा ध्यान रहता था। उनकी भाषा का प्रभाव 'गंग' की भाषा के ही समान था। यदि उसमें और 'गंग' की भाषा में कोई विरोध था तो केवल इतना कि 'गंग' में अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य है, जबकि लल्लूलाल सदैव अपनी भाषा को संस्कृतमयी बनाने का प्रयास करते रहे। बड़े-बड़े वाक्यों और अनुप्रास-युक्त तुकबन्दी से उनकी भाषा में प्रवाह-सा आ गया है; किन्तु अभिव्यंजना-शक्ति का उसमें अभाव है। यही नहीं ,वह

सामान्य व्यवहार के भी उपयुक्त नहीं हैं। उनकी भाषा प्रवाहहीन और थका देने वाली है।

इसके अतिरिक्त लल्लूलालजी ने ब्रजभाषा में भी गद्य लिखा है। सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुन्तला नाटक आदि का इन्होंने अनुवाद भी किया था; पर इनकी भाषा उर्दू ही है। प्रेमसागर की भाषा हिन्दी है। सं० १८६९ में इन्होंने हितोपदेश की कहानियों का 'राजनीति' नाम से ब्रजभाषा में रूपान्तर किया था। पुस्तकों के प्रकाशन के लिए लल्लूलालजी ने एक प्रेस भी खोला था और उससे अनेक पुस्तकों का प्रकाशन भी किया था।

४—सदल मिश्र—लल्लूलाल के साथ ही साथ यह भी 'फोर्ट विलियम कालेज' के आश्रय में गद्य का प्रणयन कर रहे थे। कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से इन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। किन्तु इन दोनों समकालीन लेखकों की भाषा में काफी अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के क्षेत्र में सदल मिश्र लल्लूलालजी से अधिक सचेत थे। यद्यपि पूर्वी प्रदेश के निवासी होने के कारण पूर्वी प्रयोगों की कमी इनकी भाषा में भी नहीं है, किन्तु उसमें व्यवस्था का अभाव भी नहीं है। इनकी व्यवहारोपयोगी भाषा में ब्रजभाषा के प्रयोगों का वैसा आधिक्य नहीं है, जैसा कि हमें उनके साथी लल्लूलालजी की भाषा में मिलता है। लल्लूलालजी की भाषा के समान प्रवाहहीनता, जड़ता और थका देने वाली वृत्ति इनकी भाषा में नहीं है; किन्तु खड़ी बोली का परिमार्जित साफ-सुथरा रूप न होने पर भी उसमें व्यवस्था और प्रवाह का उतना अभाव नहीं है।

इस प्रकार सं० १८६० के लगभग ये चार लेखक हिन्दी-गद्य की धारा को एक निश्चित दिशा में मोड़ने का प्रयास कर रहे थे। इन चारों में सदल मिश्र और सदासुखलाल की भाषा में हमें हिन्दी-गद्य के उस रूप के दर्शन होते हैं, जिसका भविष्य में एक निश्चित स्थान होना था। इनमें भी मुंशी सदासुखलाल की भाषा के प्रभाव, प्रवाह, परिमार्जन, व्यवस्था और व्यवहार की उपयुक्तता का विशेष महत्त्व है।

वास्तव में उसी के आधार पर भविष्य में खड़ी बोली-गद्य का विकास हुआ है। अतः हिन्दी-गद्य के प्रवर्त्तक इन चारों महानुभावों में मुंशी सदासुखलाल का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सं० १८६० के पश्चात् एक बार फिर हिन्दी-गद्य की धारा अवरुद्ध-सी हो गयी जान पड़ती है। फिर सं० १९१५ की भारतीय स्वाधीनता की महान् क्रांति तक किसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक के दर्शन नहीं होते। जटमल के "गोराबादल री बात" का किसी अज्ञात लेखक ने सं० १८८१ में अनुवाद किया है। उसके अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय ग्रंथ प्राप्य नहीं है।

सं० १९१४ की महान् क्रांति के पश्चात् फिर से हिन्दी-गद्य का विकास-युग आरम्भ होता है। देश-प्रेम की भावनाओं ने देश के मन में अपनेपन के भाव का प्रसार किया और इस प्रकार देश में अपनी भाषा के प्रति भी आकर्षण पैदा हुआ। अंग्रेज जम गये थे और चाहते थे कि अपने धर्म और शासन की आधारशिला को स्थायी बना लें। इस कारण हिन्दी-गद्य की पिछड़ी परम्परा का पूरा-पूरा लाभ उन्होंने अपने प्रचार के लिए किया। स्थान-स्थान पर धर्मप्रचारक मिशनों की स्थापना के कारण हिन्दी-गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ। सौभाग्य से अंग्रेजों का अपने स्वार्थ के लिए, अपने धर्म-प्रचार के लिए, हिन्दी-गद्य को अपनाना स्वयं हिन्दी-गद्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इस प्रकार अनायास ही हिन्दी-गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि प्रचारकों ने शुद्ध हिन्दी को अपनाया था, उर्दू को नहीं। वास्तव में उर्दू उस समय की कोई मान्य भाषा थी भी नहीं, एक वर्ग-विशेष उसे बढ़ावा मात्र दे रहा था।

धर्म-प्रचार के जोश में मिशनरियों ने स्थान-स्थान पर मिशन स्कूलों की स्थापना की, पुस्तकें लिखीं तथा उनका प्रचार किया। सन् १८३५ में 'सिरामपुर' में जो इन ईसाई-धर्मप्रचारकों का केन्द्र था, प्रेस की स्थापना की गयी। इस प्रेस की स्थापना का बड़ा महत्त्व है। सिरामपुर के प्रेस से अब निरन्तर गद्य-साहित्य का प्रकाशन तथा धर्मग्रन्थों और प्रचारक पत्रिकाओं का निकलना प्रारम्भ हो गया। वे ईसाई धर्म-प्रचारक

मुफ्त में साहित्य बाँटते थे और इस प्रकार उनकी धर्म-प्रचार की उत्कट भावना के कारण हिन्दी की अनेक पुस्तकें घर-घर पहुँच गयीं। सं० १८६६ में विलियम केरे ने बाइबिल का हिन्दी अनुवाद 'नये धर्म नियम' के नाम से प्रकाशित किया। सं० १८९३ में 'दाऊद के गीत' नाम से गीतों का प्रकाशन हुआ। इनकी शैली भक्त कवियों की शैली के समान थी। सं० १८७७ में 'कलकत्ता बुक सोसाइटी' और १८९० में 'आगरा बुक सोसाइटी' के नाम की संस्थाएँ खुलीं। मिशन स्कूलों में पढ़ाने के लिए पाठ्य पुस्तकों का—जिनमें इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, धर्म आदि सभी विषय आते थे—प्रणयन भी हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य पुस्तकों का अनुवाद भी किया गया। परिणामस्वरूप हिन्दी-गद्य का एक छोटा-मोटा साहित्य इन ईसाई धर्म-प्रचारकों के कारण हिन्दी को मिल गया। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें तो सर्वप्रथम इनकी ही देन हैं। गद्य के विकास में उनका योग कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

ईसाई धर्म-प्रचारकों के इस क्रियात्मक योग के अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण था उसका अप्रत्यक्ष लाभ। इन प्रचारकों की धार्मिक खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया ने हिन्दू समाज में एक जागृति की लहर दौड़ा दी। धर्म पर आघात भावुक हिन्दू जनता के लिए असह्य था। परिणाम यह हुआ कि अनेक धर्मसुधारक समाज उठ खड़े हुए। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है राजा राममोहन राय का 'ब्रह्म-समाज'। राजाजी ने हिन्दू-धर्म का नवीन संस्कार कर उसका प्रचार किया और इस कार्य के लिए हिन्दी, जो उस समय की सर्वसाधारण की भाषा थी, को व्यवहृत किया। अनेक स्कूलों की स्थापना हुई, उनमें धर्म और संस्कृति के पठन-पाठन की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार हिन्दी का विकास बड़े जोर से होने लगा। राजाजी का "वेदान्त सूत्र का भाष्य" सं० १८७२ में प्रकाशित हुआ। उसकी भाषा हिन्दी ही रही।

इसी समय कुछ सम्प्रदायवादियों के प्रभाव से अदालतों में सर्वसाधारण की भाषा हिन्दी को ठुकराकर उसके स्थान पर उर्दू को बैठा दिया गया। परिणामस्वरूप हिन्दी-भाषी जनता में असंतोष की एक लहर

व्याप्त हो गयी। प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दी का विकास और भी अधिक जोर के साथ होने लगा। इस अन्याय का विरोध करने के हेतु कई समाचार-पत्रों का प्रकाशन हुआ; किन्तु इस बात ने हिन्दी को आघात भी पहुँचाया। अदालती भाषा होने के कारण हिन्दुओं ने भी उर्दू का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और कुछ काल के लिए हिन्दी की पढ़ाई का मार्ग अवरुद्ध-सा हो गया। किन्तु सं० १८८३ में "उदंत मार्तण्ड", सं० १८८६ में "वंगदूत" तथा सं० १९०७ में "सुधाकर" आदि पत्रों के प्रकाशन से गद्य का विकास फिर एक निश्चित रूप से प्रारम्भ हो गया। इसी समय के लगभग मैकाले के प्रबल तर्कों के आधार पर शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी बना दी गयी। इस प्रकार अब अँग्रेजी का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया। सं० १९११ के लगभग मुसलमानों के प्रभावशाली नेता और हिन्दी के कट्टर विरोधी सर सैयद अहमदखाँ के प्रयास से उर्दू को—जो अदालती भाषा तो थी ही—पढ़ना भी अनिवार्य कर दिया गया। यही नहीं, हिन्दी को शिक्षा-क्रम से पूर्णरूपेण निकलवाने का भी प्रयत्न हुआ। उर्दू का सबसे बड़ा समर्थक, धार्मिक विद्वेष से भरा हुआ, 'हिन्दुस्तानी भाषा का इतिहास' लिखने वाला फ्रांसीसी लेखक 'तासी' था। यह पेरिस में बैठे-बैठे हिन्दी के विरुद्ध आग उगलता रहता था।

किन्तु इसी समय हिन्दी के सौभाग्य से एक ऐसा व्यक्ति सामने आया, जिसे अपनी भाषा की चिन्ता थी। यह थे "राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द।" वे हिन्दी के पक्षपाती थे। उन्होंने इस अन्याय के प्रति आन्दोलन उठाया और वे अपने प्रभाव से विद्यालयों में हिन्दी-शिक्षा का प्रबन्ध कराने में सफल रहे। किन्तु उर्दू के सरकारी भाषा होने के कारण हिन्दी का अध्ययन न हो सका। फिर राजा शिवप्रसाद परिस्थिति के प्रभाव से अथवा किसी और कारण से हिन्दी भाषा को "फैशनेबिल" बनाने के पक्षपाती हो गये। धीरे-धीरे उनकी भाषा में देवनागरी लिपिमात्र रह गयी। इस परिवर्तन से हिन्दी-गद्य को एक गहरा धक्का तो लगा ही; किन्तु ठीक उसी समय राजा लक्ष्मणसिंह का आविर्भाव उसकी

कमी को पूरा करने के लिए हो गया। राजा साहब शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखने के पक्षपाती थे। उनकी भाषा का सर्वोत्तम निखरा रूप उनके द्वारा अनुवादित 'शकुन्तला' नाटक में है। सरस और मधुर होने के साथ ही उनकी भाषा विशुद्ध और परिमार्जित हिन्दी है। इसी समय एक अंग्रेज महानुभाव, फेडरिक पिन्काट, हिन्दी के पक्ष में उठ खड़े हुए। उनके अथक और प्रेमपूर्ण परिश्रम से हिन्दी के विकास में सहायता तो मिली ही, साथ ही हिन्दी को विदेशी लोगों का सम्पर्क भी मिला। पिन्काट साहब स्वयं हिन्दी में लिखते थे और दूसरों को लिखने की प्रेरणा देते थे। उन्होंने कुछ ओजस्विनी कविताओं की भी रचना की है। अपने एक 'पत्र' में भी उन्होंने हिन्दी को स्थान दिया था। उनका सम्बन्ध प्रायः सभी हिन्दी-साहित्यकारों से था। जीवन के अन्तिम दिनों में वे भारत में ही हिन्दी और संस्कृत का प्रचार करते-करते इसी देश की धूलि के अंग बन गये।

पंजाब में बाबू नवीनचन्द्र राय के अथक परिश्रम से हिन्दी का बड़ा प्रचार हुआ। स्वयं रायजी ने अपने ग्रंथों की रचना हिन्दी में की और 'ज्ञान प्रदायिनी' नाम की पत्रिका भी निकाली। नवीन बाबू अपने प्रबल तर्कों से उर्दू के पक्षपातियों को मुँह-तोड़ उत्तर देकर हिन्दी का पक्षपोषण करते रहे। सर सैयद अहमदखाँ और प्रान्तीय गवर्नर हैवेल, दोनों ही हिन्दी के कट्टर विरोधी थे; किन्तु उनके विरोध के होते हुए भी हिन्दी का विकास होता रहा। इसी समय कुछ प्रसिद्ध अखबारों ने जनता की ओर से हिन्दी के प्रचार की आवश्यकता पर जोर दिया।

सं० १९३२ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा 'आर्यसमाज' की स्थापना हिन्दी के विकास-परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। स्वामीजी ने अपने मत का प्रचार तो हिन्दी के माध्यम से किया ही साथ ही अपना सम्पूर्ण साहित्य 'आर्यभाषा' में ही लिखा। स्वामीजी ने धर्म के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति ला दी। उस क्रांति के उद्भव से देश में चेतना के दर्शन हुए और परिणामस्वरूप सभी को अपनी भाषा की ओर स्वाभाविक आकर्षण हुआ। स्थान-स्थान पर 'दयानन्द वैदिक

स्कूलों' की स्थापना और धर्म-प्रचार आदि के बल पर उत्तर-भारत में हिन्दी-भाषा का जयगान गूँज उठा। आर्य-समाज ने घर-घर में हिन्दी का प्रचार किया।

पंजाब की एक दूसरी विभूति पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी भी अपने पत्र 'सत्यामृत-प्रकाश' के द्वारा हिन्दी की सेवा कर रहे थे। उनकी वाणी का ओज और प्रभाव उनकी भाषा में भी था। उनके अथक प्रयत्नों से पंजाब-जैसा प्रांत भी हिन्दी-भाषा का गढ़ बन गया। इस प्रकार हिन्दी का प्रचार बढ़ता ही चला गया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के आविर्भाव तक हिन्दी की ओर लोगों की चेतना आकर्षित हो गयी थी। एक विशाल साहित्य का निर्माण हो चुका था। हिन्दी-भाषा के गद्य में भविष्य का स्पष्ट रूप राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में ही था। आवश्यकता केवल उस रूप को आगे बढ़ाकर, परिमार्जित और प्रौढ़ गद्य-साहित्य की रचना की थी और यही काम भारतेन्दु की बहुमुखी प्रतिभा ने बड़ी सफलता के साथ सम्पन्न किया।

लेखकों के परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सन् १८५० ई० में काशी के एक समृद्ध वैश्य-परिवार में हुआ था। आपने हिन्दी, उर्दू तथा अँग्रेजी का ज्ञान घर पर ही प्राप्त किया था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में जगन्नाथपुरी की यात्रा से लौटने के उपरान्त इन्होंने समाज-सेवा का भार ग्रहण कर लिया। इस यात्रा में ही उन्होंने बँगला सीखी थी। संस्कृत, मराठी और गुजराती आदि का ज्ञान इनके अपने अभ्यास और परिश्रम का फल था।

यह हिन्दी के प्रथम महान् पत्रकार थे। इनके पत्र-सम्पादन-कौशल का परिचय 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' की पुरानी फाइलें देखने से बड़ी सरलता से मिल सकता है। भारतेन्दु हिन्दी नाटकों के जन्मदाता कहे जा सकते हैं, यद्यपि इनके पूर्व भी दो-एक नाटक हिन्दी में लिखे जा चुके थे। हिन्दी नाटकों तथा रंगमंच के क्षेत्र में पहला दृढ़ कदम भारतेन्दुजी ने ही रखा था। लगभग अट्ठारह मौलिक तथा अनूदित नाटक लिखकर उन्होंने हिन्दी में नाटकों की परम्परा का बड़ा सुन्दर प्रारम्भ किया।

भाषा के परिमार्जन की ओर भारतेन्दु का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उस समय तक के लेखकों की भाषा के दोषों का परिष्कार करके उसे उन्होंने प्रवाहपूर्ण, व्यवस्थित, मधुर और परिमार्जित किया। उन्होंने तत्कालीन साहित्यकारों का विषय के सम्बन्ध में भी मार्गप्रदर्शन किया। शृंगार, प्रेम, अथवा भक्ति ही अब तक साहित्य-रचना के विषय बने हुए थे। देश-भक्ति, समाज-सेवा आदि नये विषयों का परिचय साहित्य को सबसे पहले उन्हीं के द्वारा प्राप्त हुआ। भारतेन्दु ने लोगों को देश और काल के अनुसार नये ढंग की साहित्य-रचना की

ओर प्रवृत्त किया। गद्य के नये रूपों की ओर भी लेखकों का ध्यान उन्होंने आकर्षित किया।

भारतेन्दु ने दो प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया—प्रथम तो भावावेश की, द्वितीय तथ्य-निरूपण की। भावावेश की शैली में शीघ्र प्रभाव डालने और भाषा में प्रवाह तथा ओज लाने के लिए प्रायः छोटे-छोटे वाक्यों और सरल तथा बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ है, जिसमें कभी-कभी अरबी-फ़ारसी के शब्द भी आ जाते हैं। गम्भीर भाव-चित्रण की भाषा साधु और गम्भीर है, वाक्य भी अपेक्षाकृत बड़े हैं। तथ्य-निरूपण-शैली में संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। उन्होंने वर्णनात्मक प्रसंगों में विषयानुसार मधुर तथा कठोर वर्णों के शब्दों का प्रयोग किया है। भावानुकूल शैली की योजना में भारतेन्दु अपने समय के लेखकों में अद्वितीय हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियों में निबन्ध लिखने का सूत्रपात भी भारतेन्दु ने ही किया।

बहुत-से लेखकों ने भारतेन्दु के प्रभाव से हिन्दी में साहित्य-सृजन प्रारम्भ किया। इन्हीं को मिलाकर भारतेन्दु-मण्डल बन गया। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह, राधाचरण गोस्वामी इत्यादि इस मण्डल के प्रमुख रत्न थे।

बालकृष्ण भट्ट

पण्डित बालकृष्ण भट्ट का जन्म ३ जून, १८४४ में हुआ था। इनके पिता का नाम पण्डित वेणीप्रसाद था। बचपन में यह अपने ननिहाल में रहे और वहीं पर हिन्दी, संस्कृत और अँगरेजी का अध्ययन किया। भट्टजी ने पहले प्रयाग के जमुना मिशन स्कूल में और फिर कायस्थ पाठ-शाला में अध्यापन का कार्य किया। वह संस्कृत के विद्वान् थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पर्क में आने पर उनके हृदय में हिन्दी-साहित्य की सेवा करने की प्रेरणा जाग्रत हुई। इन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र का सम्पादन प्रारम्भ किया। निरन्तर ३२ वर्ष तक वह इस पत्र का सम्पादन

करते रहे। आपने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी शब्द-सागर' के सम्पादन में श्री श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ कार्य किया। भट्टजी ने कई उपन्यास, लगभग बीस छोटे-बड़े नाटक, सैकड़ों निबन्ध तथा सम्पादकीय लेख लिखे। २० जुलाई सन् १९१४ ई० को सत्तर वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हो गया। भट्टजी ने यों तो साहित्य-सृष्टि में भारतेन्दु से प्रेरणा ली थी; परन्तु वह अपनी शैली को सुबोध और लोकप्रिय बनाने की ओर अत्यन्त प्रयत्नशील थे। अपने इस प्रयत्न में उन्होंने उर्दू और फारसी के शब्दों का इतना अधिक प्रयोग करना आरम्भ कर दिया कि उनमें और राजा शिवप्रसाद की शैली में कोई अन्तर नहीं रह गया।

भट्टजी की शैली में भारतेन्दु की शैली के विकसित रूप के दर्शन होते हैं। उनकी और प्रतापनारायण मिश्र की लेखन-शैली में साम्य पाया जाता है। दोनों ही कहावतों का खूब प्रयोग करते थे। भट्टजी कहावतों से अधिक मुहावरों का प्रयोग करते थे। जिस समय भट्टजी ने लिखना प्रारम्भ किया, सामाजिक क्षेत्र में प्राचीन और नवीन विचारों का सन्धि-काल था। सुधारवादी भट्टजी को समाज की रूढ़वादिता देखकर बहुत खिजलाहट होती थी। उनकी यह खीझ उनके लेखों में स्पष्ट झलकती है। उनके लेखों में व्यंग्य और वक्रता बहुत मिलती है। उर्दू-फारसी के शब्दों के ही साथ उनकी भाषा में अँगरेजी के शब्दों का भी प्रयोग काफी मिलता है। उनकी भाषा चरपरी, खरी और चमत्कार-पूर्ण होती थी। अपनी भाषा को वह खूब व्यापक बनाना चाहते थे, इसलिए समाज में जो नवीन जागरण हो रहा था, उसी के अनुकूल भाव-प्रकाशन का प्रयत्न करते थे। पूर्वी ढंग के शब्दों का भी प्रयोग करते थे। उनका शब्द-विन्यास अनूठा और चमत्कार-पूर्ण होता था। उनकी शैली प्रवाहमयी और भाषा सुसंस्कृत, सुरुचिपूर्ण होती थी, प्रतापनारायण मिश्र की भाँति उसमें ग्रामीणता नहीं होती थी।

भट्टजी ने कुछ भावात्मक लेख—कल्पना, आत्मनिर्भरता इत्यादि लिखे हैं। इनकी भाषा गंभीर और संयत है। इनके अतिरिक्त भट्टजी

गद्य-काव्य के जन्मदाता भी कहे जा सकते हैं। उनके 'चन्द्रोदय' इत्यादि लेख इसी कोटि में आते हैं। भट्टजी और प्रतापनारायण मिश्र का आधुनिक हिन्दी गद्य-लेखकों में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। निबन्ध लिखने की कला तो पहले पहल इन्हीं दोनों लेखकों में मिलती है।

प्रतापनारायण मिश्र

भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की भाषा का परिमार्जन कर दिया था, पर भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियों का रूप निर्धारित होने का कार्य, जिन पर लेखकों के अपने व्यक्तित्व की छाप हो, अभी बाकी था। भारतेन्दु के प्रभाव से जो लेखक-मंडल तैयार हुआ था उसके लेखकों की लेखन-शैली पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखलायी देती है। भारतेन्दु-युग के इन लेखकों की शैली बड़ी चमत्कारपूर्ण और जिन्दादिली से परिपूर्ण है। शैली के इस गुण में प्रतापनारायण मिश्र समकालीन सभी लेखकों को पीछे छोड़ जाते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र के पूर्वज उन्नाव जिले के बैंजेगाँव के निवासी थे। कानपुर में सन् १८५६ ई० में मिश्रजी का जन्म हुआ। इन्हें आरम्भ में ज्योतिष की शिक्षा दी गयी थी, परन्तु वह इन्हें रुचिकर न हुई। स्वयं ही अध्ययन करके इन्होंने हिन्दी, उर्दू, फारसी, बँगला इत्यादि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह बड़े ही विनोदी तथा मनमौजी प्रकृति के व्यक्ति थे। इनके स्वभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब इनकी शैली में झलकता है। अँग्रेजी की कहावत—(Style is the man) अर्थात् शैली व्यक्तित्व की परिचायक होती है—जितनी इन पर घटित होती है, शायद ही किसी और पर होती हो। उन्होंने सन् १८८३ ई० में 'ब्राह्मण' पत्र निकाला। देश और समाज का सुधार तथा हिन्दी भाषा का प्रचार इस पत्र के मुख्य उद्देश्य थे। इन्होंने हिन्दी के 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र का भी सम्पादन किया था। सन् १८९४ ई० में इनका देहान्त हो गया। कविता, नाटक, निबन्ध, इतिहास, भूगोल, नीति आदि पर

उन्होंने अनेक लेख लिखे। चार बँगला उपन्यासों तथा कुछ संस्कृत ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

मिश्रजी अपने को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का शिष्य मानते थे; परन्तु इनकी और भारतेन्दु की शैली में बड़ा अन्तर था। उसमें भारतेन्दु की-सी विविधता तथा गम्भीरता नहीं पायी जाती। विनोदप्रिय होने के कारण उनकी शैली में व्यंग्यपूर्ण वक्रता का बाहुल्य है। आप चाहे जिस वषय पर लिखें, हास्य, विनोद और मनोरंजन की परिस्थिति उत्पन्न किर देते थे। उनके लेख तो विभिन्न विषयों पर हैं, परन्तु शैली लगभग अधिकांश में एक ही प्रकार की है। गम्भीर विषयों पर कभी-कभी ही लिखते थे। उस समय उनकी भाषा संयत तथा साधु होती थी।

मुहावरों का बाहुल्य, प्रवाहमयी वोलचाल की भाषा की चपलता, हलके-फुलके व्यंग्य उनकी मुख्य शैली की विशेषताएँ हैं। आलोचकों ने उनकी शैली का जो मुख्य दोष वतलाया है, वह उनकी ग्रामीणता है। कहीं-कहीं मिश्रजी ने सुरुचि और शिष्टता का ध्यान नहीं रखा है। भाषा तथा व्याकरण सम्बन्धी भूलें उनसे बहुत होती थीं। भाषा में ग्रामीण शब्दों तथा मुहावरों की अधिकता का कारण—मिश्रजी की भाषा को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने का अत्यधिक उत्साह है। मुहावरों और कहावतों का तो वे इतना प्रयोग करते थे कि कहीं-कहीं इनकी झड़ी लग जाती है। 'बात' पर लेख इसका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। कहीं-कहीं उन्होंने कहावतों में ही शीर्षक दे दिये हैं—जैसे 'किस पर्व में किसकी बन आती है।' अथवा 'मरे का मारें शाह मदार'। 'बात', 'वृद्ध' और 'धोखा' उनकी शैली के प्रतिनिधि लेख हैं।

बालमुकुन्द गुप्त

बालमुकुन्द गुप्त का जन्म पंजाब के रोहतक जिले के गुरयानी नामक गाँव में, सन् १८६५ ई० में हुआ था। हिन्दी-संस्कृत के अतिरिक्त इनका उर्दू भाषा पर भी अच्छा अधिकार था। पहले वह दो उर्दू के पत्रों का सम्पादन कर चुके थे। बाद में कलकत्ते के प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'बंगवासी'

और 'भारत-मित्र' के सम्पादक रहे। समाचार-पत्रों में बहुत दिनों कार्य करने के कारण इन्हें जनता की रुचि के अनुसार बोल-चाल की चलताऊ भाषा लिखने का खूब अभ्यास हो गया था। भाषा को रुचिकर बनाना, मुहावरों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना और हृदय पर सीधे प्रभाव डालने वाले छोटे-छोटे वाक्यों की रचना उनकी शैली की लोक-प्रियता के मुख्य कारण थे। इनके निबन्धों, कविताओं इत्यादि का संग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' नाम से कुछ ही समय पूर्व कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है। इन्होंने 'रत्नावली' नाटिका का अनुवाद भी किया था। अपनी जिस रचना के कारण गुप्तजी को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई वह उनके 'शिवशम्भु का चिट्ठा' है। ये राजनीतिक निबन्ध थे। अंग्रेज लोग भारतीय जनता पर कैसी निष्ठुरता से शासन कर रहे थे, कितनी उपेक्षा भारतवासियों की करते थे—इसे प्रकाश में लाना और अंग्रेजी नीति की व्यंग्यात्मक आलोचना करना, यही इस लेख-माला का उद्देश्य था। सामयिक, सबके लिए रुचिकर विषय बड़ी ही रोचक शैली में लिखा होने के कारण लेखक के लिए खूब ही लोक-प्रियता अर्जन करने का साधन बना। अपने इन लेखों में गुप्तजी बड़ी मीठी चुटकियाँ लिया करते थे। इनमें विनोदपूर्ण, वर्णनात्मक शैली में भाव और विचारों की लुका-छिपी बड़ी ही आकर्षक होती थी। चाहे जो विषय हो उसे यह अत्यन्त रोचक बना दिया करते थे। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में अन्योक्ति और रूपक का प्रयोग करते हुए अंग्रेज शासकों पर उन्होंने जैसी व्यंग्यात्मक मीठी-छुरी की मार की, वह अनुपम है।

आलोचना की शक्ति भी गुप्तजी में खूब थी। भाषा पर अधिकार होने के कारण उनकी आलोचना में चमत्कार आ जाता था। व्याकरण और भाषा के विषय को लेकर इनका और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का विवाद पत्रों में चल गया था। दोनों ही महारथियों का यह लेखनी-युद्ध पाठकों के लिए बड़ा मनोरंजक सिद्ध हुआ। खेद का विषय है कि गुप्तजी की इस रोचक शैली को कोई उत्तराधिकारी न प्राप्त हुआ। यह भारतेन्दु-युग के अंतिम प्रतिनिधि लेखक थे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी गद्य को अपने आधुनिक परिमार्जित और प्राञ्जल रूप में लानेवाले तथा खड़ी बोली को काव्यभाषा का पद दिलानेवाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में सन् १८७० में हुआ था। हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ये रेलवे के तार-विभाग में नौकर हो गये। अपना कार्य बड़ी योग्यता और परिश्रम से करने पर भी जब इनकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँची तो इन्होंने त्यागपत्र दे दिया। अब वे स्वतन्त्र-रूप से साहित्य-सेवा करने लगे। सन् १९०३ में प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य इन्होंने सँभाला। इसके पश्चात् इनका शेष जीवन लिखने-पढ़ने में ही व्यतीत हुआ। अनेक वर्षों तक के सरस्वती के सम्पादन-काल में द्विवेदीजी ने बड़े परिश्रम में साहित्य-सृजन किया। उन्होंने अनेक क्षेत्रों में कार्य किया। कविता, निबन्ध और समालोचना के अतिरिक्त भाषा, व्याकरण, इतिहास, वैज्ञानिक आविष्कार, औद्योगिक विकास, भारत के प्राचीन साहित्य तथा सांस्कृतिक गौरव इत्यादि विभिन्न विषयों पर उन्होंने लिखा था। अनुवाद इत्यादि मिलाकर उन्होंने लगभग पचास पुस्तकें लिखी हैं, जिनकी पृष्ठ-संख्या लगभग २५ हजार होती है। स्वयं लिखने के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने भाषा के रूप को संयत किया, विभिन्न प्रकार की शैलियों का रूप निर्धारित किया और अनेक लेखकों को साहित्य-सेवा के लिए प्रेरणा देकर उनसे साहित्य-सर्जन करवाया। खड़ी बोली गद्य के विकास का जो कार्य भारतेन्दु ने प्रारम्भ किया था, उसे द्विवेदीजी ने पूर्ण किया। उनके पहले के लेखक व्याकरण तथा विराम-सम्बन्धी भूलें खूब किया करते थे। द्विवेदीजी ने सरस्वती में भाषा और व्याकरण पर लेख लिखे और लेखकों के लेखों की भाषा सुधार कर उन्हें शुद्ध लिखना सिखलाया। इतने अधिक समय तक और इतनी शक्ति के साथ द्विवेदीजी कार्य करते रहे कि उनके बनाये हुए लेखकों का एक अच्छा खासा दल हो गया।

द्विवेदीजी हिन्दी के पाठक बना रहे थे। वह उन व्यक्तियों में भी हिन्दी पढ़ने की रुचि उत्पन्न करना चाहते थे जो अब तक इससे अनभिज्ञ थे अथवा इस ओर से उदासीन थे। कभी-कभी उनके लेखों में विचारों की पुनरावृत्ति पायी जाती है अथवा वह कही हुई बात को सारांश रूप में पुनः कहते दिखलायी देते हैं। इसका कारण यही है कि वह साधारण से साधारण पाठकों को भी बात समझाये बिना आगे नहीं बढ़ाना चाहते।

द्विवेदीजी अपनी भाषा में आवश्यकतानुसार उर्दू और अँग्रेजी के शब्दों का तत्सम रूप में ही प्रयोग करते थे। उनका शब्द-चयन बड़ा ही शक्तिशाली और संगठित होता था। वह शुद्ध वाक्य बड़े ही प्रभावशाली ढंग से लिखते थे। अपने लेख को कई अंगों में विभाजित करके वह उपयुक्त तथा ओजपूर्ण भाषा में विषय का प्रतिपादन करते थे। उस युग के लिए यह बिल्कुल नयी बात थी।

द्विवेदीजी की शैली भाव-प्रकाशन की दृष्टि से तीन रूपों में दिखलायी देती है—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक। व्यंग्यात्मक शैली की भाषा व्यावहारिक है जिसमें साधारण पढ़ी-लिखी जनता बातचीत करती है—अर्थात् हिन्दी-उर्दू के प्रचलित शब्दों से पूर्ण मुहावरे, चुलबुलापन, मसखरापन और पग-पग पर व्यंग्य इसकी विशेषता है। आलोचनात्मक शैली में उनके अधिकांश लेख लिखे गये हैं। उपर्युक्त भाषा को गम्भीर और संयत करके उसकी व्यंग्यात्मकता निकाल दी गयी। भाषा के स्वरूप तथा मुहावरों के प्रयोग में अंतर नहीं आया; परन्तु कथन-प्रणाली आलोचनात्मक और तथ्यातथ्य निरूपक होने के कारण गम्भीरता और ओज से पुष्ट हो गयी। गवेषणात्मक शैली में उर्दू की तत्समता का बिल्कुल अभाव है और विशुद्ध हिन्दी का रूप उपस्थित होता है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े होते हैं। शब्द-योजना और वाक्य-रचना देखकर ही यह प्रतीत हो जाता है कि इस शैली का उद्देश्य गम्भीर विषय का विवेचन है। कथन प्रणाली में गम्भीरता होने के कारण इस शैली में उतना प्रवाह नहीं है। हिन्दी-गद्य को परिमार्जित,

प्राञ्जल और अशुद्धि-रहित बनाने के कारण द्विवेदी जी का हिन्दी-गद्य-निर्माताओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अध्यापक पूर्णसिंह

हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास के द्वितीय चरण के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी लेखक हुए, जिन्होंने लिखा तो बहुत थोड़ा; परन्तु जो कुछ लिखा वह इतना सुन्दर था कि उसी ने उन्हें हिन्दी के लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिला दिया। ऐसे लेखकों में अध्यापक पूर्णसिंह और माधव प्रसाद मिश्र विशेष उल्लेखनीय हैं। पूर्णसिंह के केवल तीन-चार निबन्ध जो सरस्वती में प्रकाशित हुए थे, उपलब्ध हैं; परन्तु उनकी विचार-प्रणाली और भाव का निरूपण बहुत सुन्दर है। हिन्दी में इस प्रकार की शैली इससे पहले कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई। इसमें अनूठी लाक्षणिकता, प्रबल प्रवाह और ओज है। स्थान-स्थान पर नाटकीयता और भाषणों का-सा उतार-चढ़ाव भी है।

इनके लेखों में भाषा और भावों का बड़ा ही सुन्दर गुम्फन दिखलायी देता है। विचारधारा और शैली बड़ी ही प्रौढ़ है। लेख के विषय को भावात्मक शैली में, जिसके अन्तस्तल में तीक्ष्ण विचार-धारा प्रवाहित होती रहती है, वह इस प्रकार से विकसित और प्रतिपादित करते हैं कि वह सजीव हो उठता है। एक के बाद एक वाक्यों का उतार-चढ़ाव और निर्माण इतना सामञ्जस्य-युक्त होता है कि शैली खूब ही चमत्कार पूर्ण बन जाती है, अध्यापकजी की दूसरी विशेषता उनकी लाक्षणिक अभिव्यक्ति प्रणाली है, जिसमें एक विचित्र अनूठापन होता है। उदाहरणार्थ 'तारागण के कटाक्षपूर्ण मौन व्याख्यान' अथवा 'हृदय की नाड़ी में सुन्दरता पिरो देता हैं' विरोधी अर्थद्योतक शब्दों के प्रयोग से भाषा खूब ही सजीव हो जाती है। गम्भीर भाषा-रचना के बीच कभी-कभी व्यंग्यात्मक रचना-प्रणाली का भी अच्छा समावेश रहता है, उदाहरणार्थ—"पुस्तकों के लिखे नुसखों से तो और भी बदहजमी हो जाती है।" वैसे तो ये शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे, परन्तु उर्दू और पंजाबी के अच्छे ज्ञाता

होने के कारण इनके जो शब्द स्वभावतः उनकी भाषा में आ जाते थे उनको वे निकाल कर बाहर नहीं करते थे।

अध्यापकजी का जन्म सन् १८८१ में ऐबटाबाद (पंजाब) में हुआ था। आपने इण्टरमीडिएट तक शिक्षा प्राप्त की और सन् १९०० में जापान चले गये। वहाँ से लौटकर देहरादून के फारेस्ट कालेज में नियुक्त हुए। यह स्वामी रामतीर्थ के शिष्य थे। सन् १९३१ में इनकी मृत्यु हुई। 'आचरण की सभ्यता', 'वीरता' तथा 'मजदूरी और प्रेम' इनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं।

श्यामसुन्दरदास

श्यामसुन्दरदास की गणना इस युग के प्रमुख उन्नायकों में की जाती है। उनकी साहित्य-सेवा का सर्वोत्तम प्रतीक उनके द्वारा स्थापित नागरी प्रचारिणी सभा है, जो भिन्न-भिन्न रूपों में हिन्दी का प्रचार तथा उसे समृद्ध बनाने का कार्य कर रही है। इनका जन्म बनारस के एक प्रतिष्ठित खत्री परिवार में, सन् १८७५ में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री देवीदास खन्ना था। बी० ए० पास होने के पश्चात् यह बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में अध्यापक नियुक्त हुए, कुछ दिन सिंचाई विभाग में रहे थे। फिर लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे और अन्त में काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग स्थापित होने पर उसके अध्यक्ष नियुक्त हुए। वहीं से आपने अवकाश ग्रहण किया। अगस्त सन् १९४५ में आपका देहावसान हो गया।

श्यामसुन्दरदास ने जिस समय हिन्दी-क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय सबसे बड़ी आवश्यकता विश्वविद्यालय की कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करना था। विश्वविद्यालय के योग्य पाठ्य विषयों पर पुस्तकों का उस समय तक बिल्कुल ही अभाव था। यह कार्य श्यामसुन्दरदास ने किया। हिन्दी भाषा, कवियों की खोज, साहित्य का इतिहास, साहित्यालोचन इत्यादि गम्भीर विषयों पर इन्होंने हिन्दी में सबसे पहले लिखा। इनकी देख-रेख में नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए—'हिन्दी शब्द-सागर' का संकलन

तथा सम्पादन, हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की खोज, उनके नये संस्करण प्रकाशित करने की व्यवस्था इत्यादि। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का ये बहुत दिन तक सम्पादन करते रहे। साहित्यालोचन, हिन्दी भाषा और साहित्य, भाषा-विज्ञान, रूपक-रहस्य, गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। कुछ आलोचकों ने आपके ग्रन्थों की आलोचना करते समय उनमें मौलिकता की कमी बतलायी है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इन विषयों में आपसे पहले कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे इसलिए यह अनिवार्य था कि लेखक अँगरेजी इत्यादि समृद्ध भाषाओं में उपलब्ध पुस्तकों से विचार ग्रहण करता।

श्यामसुन्दरदास की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग बिल्कुल नहीं हुआ। संस्कृत के बड़े-बड़े समासान्त पदों का भी आपकी भाषा में अभाव रहता है। इनकी भाषा सुगठित, परिमार्जित तथा प्रभावमयी रहती है। गम्भीर विचारों की अभिव्यक्ति के लिए वह संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। जिन तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनका वह रूप ही ग्रहण करते हैं जो सभ्य-समाज में प्रचलित होता है। उर्दू-फारसी के जिन शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है, उन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल बना लिया है, उनके नुक्ते हटा दिये हैं और उनका वही रूप स्वीकार किया है जिसका प्रयोग हिन्दी भाषा-भाषी करते हैं। उदाहरणार्थ तेज़ के स्थान पर तेज, अक्ल के स्थान पर अकिल इत्यादि का प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों तथा मुहावरों का इनकी शैली में बिल्कुल अभाव है; क्योंकि वे उनकी गम्भीरता तथा निदर्शन-प्रणाली से मेल नहीं खाते। द्विवेदीजी ने हिन्दी गद्य-शैली को जिस स्थान पर छोड़ा था, वहाँ से उसे श्यामसुन्दरदास जी ने विकसित किया।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्लजी का जन्म एक सरयूपारीण ब्राह्मण-वंश में, बस्ती जिले के अगोना ग्राम में सन् १८८४ में हुआ था। आरम्भ में इन्हें

संस्कृत की शिक्षा प्राप्त हुई थी, फिर एफ० ए० में पढ़ना छोड़कर आप मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक हो गये। 'प्रेमघन' से इनका यहीं परिचय हो गया और ये उनकी सम्पादित 'आनन्द-कादम्बिनी' में लिखने लगे। इन्होंने 'सरस्वती' में भी कुछ लेख लिखे। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने जब हिन्दी शब्द-सागर के निर्माण की योजना बनायी तो यह भी उसके सम्पादक-मण्डल में रखे गये। शब्द-सागर की भूमिका के रूप में जो हिन्दी-साहित्य का इतिहास आपने लिखा था उसे बाद में अलग से प्रकाशित होने पर बड़ा उच्च स्थान मिला। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का आपने कई वर्ष तक सम्पादन किया। पहले आप काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक और बाद में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष भी हुए। सन् १९४१ में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पहले हिन्दी आलोचना बड़ी प्रारम्भिक अवस्था में थी। उसके मापदण्ड बिल्कुल पुरानी पद्धति के थे। शुक्लजी को आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्मदाता कह सकते हैं। उन्होंने हिन्दी आलोचना को एक नवीन आत्मा तथा कलेवर प्रदान किया, जिस प्रकार की विशद और सर्वाङ्गीण आलोचना इन्होंने प्रारम्भ की वह हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन थी। शुक्लजी की आलोचना में लेखक के गुण-दोषों पर ही प्रकाश न डाला जाता था, बल्कि लेखक की मानसिक स्थिति का स्पष्ट चित्रण भी होता था। उनके 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' से जहाँ उनकी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक खोजों का परिचय मिलता है, वहीं कवियों और लेखकों के सम्बन्ध में उनकी शक्तिशाली सप्रमाण समा-लोचना के भी दर्शन होते हैं। शुक्लजी हिन्दी में 'प्रबन्ध-आलोचना' के भी आरम्भकर्त्ता थे। इसमें किसी साहित्यिक के सम्पूर्ण सर्जन की विस्तृत आलोचना की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी पर लिखी हुई इन प्रबन्ध-आलोचनाओं से हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

उनका आगमन ऐसे काल में हुआ था, जब हिन्दी-आलोचना में नवीन चेतना का स्फुरण हो रहा था। समीक्षा के भारतीय आधार को पुष्ट करते हुए उन्होंने भविष्य की साहित्य-समीक्षा की आधारशिला रख दी।

शुक्लजी कवि होने के अतिरिक्त एक उच्चकोटि के निबन्ध-लेखक भी थे। लोभ, क्रोध, घृणा, श्रद्धा और भक्ति, लज्जा और ग्लानि इत्यादि मनोभावों पर जैसे विवेचनापूर्ण निबन्ध शुक्लजी ने लिखे हैं वे हिन्दी में अनुपम हैं। हिन्दी-गद्य-शैली के निर्माण-क्षेत्र में उनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। गम्भीरता, विचारशीलता तथा पांडित्य उनकी शैली में देख पड़ते हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक विचारों को भरने की प्रणाली हिन्दी गद्य में इन्होंने प्रारम्भ की। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत तथा प्रौढ़ होती है। वह उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग करते हैं और उनके तत्सम रूप ही लेते हैं।

हिन्दी गद्य के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी को उन्नत तथा परिष्कृत करने का उनका कार्य स्तुत्य था।

विनोबा भावे

आचार्य विनोबा भावे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी, 'सर्वोदय' समाज के प्राण और भूदान-आन्दोलन के सफल कर्णधार हैं। इन्होंने प्रायः उन सभी प्रवृत्तियों को अपनाया है जो गाँधीजी के समस्त क्रिया-कलाप की आधार थीं। आचार्य विनोबा का शास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त विस्तृत, सूक्ष्म और गम्भीर है। गाँधीजी की ही तरह ये किसी एक सिद्धांत के एकांगी पोषक न होकर समस्त जीवन-कला के आचार्य हैं। इस जीवन-कला के मूल तत्त्व सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, सेवा, संतोष, विनय आदि उदात्त गुण हैं। इनकी लेखन-शैली में भी ये सभी गुण अत्यन्त सरलता व स्वाभाविकता के साथ प्रकट हुए हैं। विनोबा जी अपनी बात को बहुत संयम व सादगी के साथ कहते हैं। व्यावहारिक व सटीक उदाहरण, दृष्टान्त आदि देकर सूक्ष्म तथ्यों को बहुत सुबोध व सुग्राह्य बना देते हैं। अनुचित पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति कहीं नहीं दिखायी

देती। निर्मल जल के झरने की तरह आपकी गद्य-शैली में भी प्रवाह व स्वच्छन्दता रहती है। वास्तव में बापू व विनोबा, इन दोनों लेखकों की शैली में बहुत अधिक समानता है।

गुलाबराय

श्री गुलाबराय का जन्म सन् १८८० में इटावा में हुआ था। आपकी शिक्षा मैनपुरी मिशन हाईस्कूल, सेण्ट जान्स कालेज तथा आगरा कालेज, आगरा में हुई। सन् १९१२ में आप सेण्ट जान्स कालेज, आगरा में हिन्दी के प्रोफेसर नियुक्त हो गये। बहुत दिनों तक आप हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचनात्मक मासिक पत्र 'साहित्य-संदेश' के सम्पादक थे। आप इन्दौर और पूना के साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशनों में दर्शन परिषद् के सभापति भी रह चुके हैं। गुलाबरायजी की शैली और विचारधारा पर द्विवेदी-युग तथा आधुनिक विचारधारा का स्वस्थ प्रभाव दिखलायी देता है। उनके निबन्ध सभी प्रकार के मिलते हैं—गम्भीर, विचारात्मक, भावात्मक तथा हास-परिहास से युक्त। फलस्वरूप उनकी शैली के विभिन्न रूप हमें दिखलायी देते हैं। भावों तथा विचारों के अनुरूप शैली और भाषा को रूप देने में आपको अनुपम कुशलता प्राप्त थी। अपने विचारों की पुष्टि में यह बड़े ही अकाट्य प्रमाण देते थे। जिनके कारण पाठक के पास उनसे सहमत होने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता। उनकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचकों में है। उनकी भाषा साधारणतया संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त हिन्दी रहती है, पर कभी-कभी अपने प्रयोग किये शब्दों अथवा वाक्यांशों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए वह ब्रेकट में अंग्रेजी के शब्द भी लिख देते थे। निबन्ध और आलोचना दोनों ही क्षेत्रों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। अप्रैल सन् १९६३ को हिन्दी का यह स्तम्भ भी दिवंगत हो गया।

बनारसीदास चतुर्वेदी

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का जन्म सन् १८९२ में हुआ था। पहले आप भिन्न-भिन्न संस्थाओं में अध्यापन का कार्य करते रहे। शांतिनिकेतन में आपका और प्रसिद्ध नेता दीनबन्धु श्री सी० एफ० ऐंड्रयूज का

साथ हुआ । गाँधीजी की आज्ञा के अनुसार आप गुजरात राष्ट्रीय विद्यापीठ, अहमदाबाद में, सन् १९२१ से १९३५ तक अध्यापक होकर गये। उसी समय साबरमती आश्रम में आपने प्रवासी भारतीयों का कार्य गांधी जी की इच्छा के अनुसार प्रारम्भ किया । 'आर्यमित्र' और 'अभ्युदय' के सम्पादकीय विभागों में कार्य करने के पश्चात् सन् १९२८ से १९३७ तक आप 'विशाल भारत' के सम्पादक रहे। 'विशाल भारत' का सम्पादन चतुर्वेदीजी ने जिस कुशलता और सेवाभाव से किया, उसने इनकी हिन्दी-जगत् में ख्याति स्थापित कर दी तथा इन्हें हिन्दी का एक श्रेष्ठ सम्पादक सिद्ध कर दिया । निश्चय ही 'विशाल भारत' का वह स्वर्ण-युग था । सन् १९४० से चतुर्वेदीजी ने पाक्षिक 'मधुकर' का सम्पादन प्रारम्भ किया। चतुर्वेदीजी के साहित्यिक जीवन में इनके सामाजिक प्रवासी कार्य के कारण पर्याप्त बाधा पड़ती रही है। सन् १९१४ से १९३४ तक ये प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध में आन्दोलन चलाते रहे। सन् १९५२ में ये इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रतिनिधि होकर अफ्रीका भी गये । आंदोलन करने में ये बड़े ही निपुण हैं । आजकल ये टीकमगढ़ झाँसी में रहते हुए साहित्य-सेवा कर रहे हैं। इनकी प्रकाशित पुस्तकों में से कुछ ये हैं—

प्रवासी भारतीय, भारत-भक्त ऐंड्रूज, सत्यनारायण कविरत्न, रानाडे, केशवचन्द्र सेन, हृदय तरंग (संग्रह), फिजी की समस्या, फिजी में भारतीय प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा, राष्ट्रभाषा, ट्रैक्ट-एमा गोल्डमैन, लुई माइकेल, प्रिंस क्रोपाटकिन, माइकेल बाकूनिन आदि ।

चतुर्वेदीजी पत्रकार और सम्पादक पहले हैं, तत्पश्चात् लेखक। उनकी स्वयं विचारोंवाली सम्पादकीय टिप्पणियों से हिन्दी-संसार परिचित है; परन्तु जिस क्षेत्र में हिन्दी के लेखकों के पथ-प्रदर्शक का कार्य उन्होंने किया है, वह है संस्मरण लिखने की कला । इनसे पहले हिन्दी में इस कला का लगभग अभाव ही था । चतुर्वेदीजी ने हिन्दी के पुराने साहित्यिकों तथा राष्ट्रीय नेताओं के हृदय-द्रावक और अत्यन्त स्वाभाविक संस्मरण लिखे हैं । भाषा को अधिक परिमार्जित करने अथवा संस्मरण का कलात्मक प्रारम्भ अथवा अंत करने का कोई प्रयत्न हम

चतुर्वेदीजी की ओर से नहीं देखते, फिर भी स्वाभाविकता का जो एक अपना सौंदर्य होता है, वह चतुर्वेदीजी के लिखे संस्मरणों में प्रत्येक पग पर दिखलायी देता है। उनकी भाषा में पत्रकारों की भाषा का चलताऊ-पन, प्रवाह और प्रभावोत्पादक कला सर्वत्र पायी जाती है।

राय कृष्णदास

श्री राय कृष्णदास का जन्म सं० १९४९ में एक प्रतिष्ठित अग्रवाल वैश्य-वंश में काशी में हुआ था। इनके पिता राय प्रहलाद दासजी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। वे बड़े अध्ययनशील और कलाप्रेमी व्यक्ति थे। राय कृष्णदास को बचपन से ही कविता तथा चित्रकला से बहुत प्रेम रहा। इन्होंने चित्रों, मूर्तियों तथा अन्य कला की वस्तुओं के संग्रह में बहुत परिश्रम किया। फिर यह संग्रह नागरी-प्रचारिणी सभा को दे दिया, जो 'कलाभवन' के नाम से विख्यात है।

राय कृष्णदास ने 'साधना', 'छायापथ', 'प्रवाल', आदि गद्य काव्य की सुप्रसिद्ध कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। इनकी रचनाओं पर बँगला के कवीन्द्र रवीन्द्र तथा हिन्दी के विख्यात कवि जयशंकर प्रसाद का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इन्होंने अपने गद्य-गीतों में भाव-प्रकाशन की जिस शैली को अपनाया है, उसमें रहस्य भावना के अनुरूप रमणीय कल्पना, भावाकुलता, अलंकृत पदावली, अभिव्यक्ति की वक्रता आदि बातें प्रमुख हैं। इन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों व उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों का स्वच्छन्दता-पूर्वक व्यवहार किया है। कहीं-कहीं लौकिक एवं देशज शब्दों का भी व्यवहार पाया जाता है। राय कृष्णदासजी की शैली भाव-प्रधान है, जो श्री वियोगी हरि, जयशंकर 'प्रसाद' आदि लेखकों की शैली से पर्याप्त समानता रखती है।

धीरेन्द्र वर्मा

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा का जन्म सन् १८९० में बरेली में हुआ था। इन्होंने क्वीन्स हाई स्कूल (अब इण्टर कालेज), लखनऊ, डी० ए० वी०

कालेज, देहरादून और म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद में शिक्षा प्राप्त की। सन् १९३२ में आप पेरिस गये और वहाँ से ब्रजभाषा के अध्ययन पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् आपने प्रयाग-विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया और वहीं हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हो गये। आजकल आप उसी पद पर हैं। इनकी लेखन-शैली सरल, वैज्ञानिक और व्यवस्थित है। आपकी लिखी पुस्तकें हिन्दी भाषा का इतिहास, ग्रामीण हिन्दी, हिन्दी भाषा और लिपि तथा विचारधारा हैं। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा और उसकी बोलियों के विशेषज्ञ हैं। हिन्दी-भाषा-विज्ञान पर सबसे पहले डॉक्टर ग्रियर्सन और श्री श्यामसुन्दरदास ने कार्य किया था। इन्होंने उसके वैज्ञानिक अध्ययन का सूत्रपात किया। इनके लेखों में वाक्यों और पैराग्राफों का इस क्रम से एक के बाद एक विकास-सा होता चलता है कि विचारधारा स्वयं ही आगे बढ़ती है। इन्होंने साधारण और सरल ढंग से गम्भीर-से-गम्भीर समस्याओं का विवेचन किया है। प्रमाण, तर्क, वास्तविक तथ्यों तथा गणना इत्यादि से यह पाठक को अपने निष्कर्ष तक पहुँचने को विवश कर देते हैं। वर्माजी ने हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन की एक नवीन प्रणाली प्रस्तुत की है। इस दृष्टि से उनके कृतित्व का पर्याप्त महत्त्व है।

सम्पूर्णानन्द

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री एवं राजस्थान के वर्तमान राज्यपाल डॉक्टर सम्पूर्णानन्द का महत्त्व हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में उनके राजनीतिक महत्त्व से कम नहीं है। आपका जन्म १ जनवरी, सन् १८९० में, काशी में हुआ था। बी० एस-सी०, एल० टी० तक शिक्षा प्राप्त करके पहले आप शिक्षक हुए। धीरे-धीरे आपका राजनीति में प्रवेश हुआ और कालान्तर में राजनीति ने आपको आवृत कर लिया। फिर भी साहित्य से जो आपका सम्बन्ध पहले से ही स्थापित हो गया था वह कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। आपने लगभग २५ पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें समाजवाद, आर्यों का आदि

देश, गणेश चिद्विलास, भाषा की शक्ति, दर्शन और जीवन तथा सप्तर्षि लोक की यात्रा मुख्य हैं। आपने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया है। शिक्षा से आपको विशेष रुचि रही है। शिक्षा की समस्याओं का गम्भीर अध्ययन करके आपने बड़े ही विवेचनापूर्ण तथा आदर्शवादी निबन्ध लिखे हैं। इनकी शैली विचारपूर्ण, संयत तथा परिमार्जित होती है। तथ्य-निरूपण, विदग्धता और ओज इसमें एक साथ ही पाये जाते हैं। यह अपनी शैली को विचार-प्रधान ही रखते हैं, भाव-प्रधान नहीं। छोटे-छोटे वाक्यों में तर्क का क्रम सुलझा हुआ रहता है और विचारधारा विकसित होती जाती है। वैज्ञानिकता और पुष्टि इनकी शैली के मुख्य गुण हैं। अगाध पांडित्य के कारण उपनिषदों और पुराणों के उद्धरण बीच-बीच में आ जाते हैं जो उनकी रचनाओं को और भी प्रामाणिक बनाते हैं। आप विशुद्ध संस्कृत-मिश्रित भाषा के पक्षपाती हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे। आजकल आप पंजाब विश्वविद्यालय में हैं। ये बलिया जिले के ओझवलियाँ ग्राम में, सन् १९०७ में उत्पन्न हुए थे। काशी-विश्वविद्यालय से इन्होंने साहित्याचार्य और ज्योतिषाचार्य की परीक्षाएँ पास कीं। यहीं से नवम्बर, सन् १९३० में शान्तिनिकेतन गये। वहाँ इन्होंने हिन्दी-विभाग की अध्यक्षता व विश्व-भारती के सम्पादन द्वारा हिन्दी की पर्याप्त सेवा की। इसके बाद इनकी नियुक्ति काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में हो गयी। लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया है। इन्होंने संत-साहित्य पर विशेष अध्ययन किया है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'सूर-साहित्य', 'कबीर', 'विचार और वितर्क', 'अशोक के फूल', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आदि इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इन्होंने अनेक स्वतंत्र निबन्धों की भी रचना की है, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर पुस्तकों में संकलित हैं।

डॉ० हजारीप्रसादजी के निवन्धों में विचार-गांभीर्य, सुसम्बद्ध विचार-शृंखला, विषय की स्पष्टता, निरीक्षण, नवीनता, विवेचन, विश्लेषण की सूक्ष्मता, व्यापक जीवन-दृष्टि एवं प्रवाहमयी, पुष्ट, समर्थ व स्वाभाविक भाषा रहती है और इस कारण वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके चिंतन में आश्चर्यजनक मौलिकता पायी जाती है। यद्यपि विषय-विवेचन में बौद्धिक प्रतिभा का ही प्रकाश रहता है, किन्तु स्वस्थ भावुकता की मधुरिमा भी यत्र-तत्र विखरी मिलती है। शास्त्रों के गूढ़ अध्ययन के परिणाम-स्वरूप अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे पौराणिक प्रसंगों, उदाहरणों, दृष्टान्तों आदि का भी सुन्दर समावेश रहता है। निजी व्यावहारिक अनुभवों का उल्लेख भी लेख में रोचकता उत्पन्न कर देता है। द्विवेदीजी की भाषा में उर्दू, फारसी व अँग्रेजी के बहुप्रचलित शब्दों का भी समावेश होता है। ये बड़े मार्मिक और ओजस्वी वक्ता भी हैं। स्वच्छन्दता इनके विवेचन-विश्लेषण का प्राण है।

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का जन्म गढ़वाल जिले के पाली नामक ग्राम में, सन् १९०१ में हुआ था। आपने विभिन्न विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० किया और फिर वहीं से 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। यह हिन्दी के सर्वप्रथम डी० लिट्० थे। इन्होंने पहले काशी विश्वविद्यालय और फिर लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी-अध्यापन का कार्य किया। हिन्दी में आपके-से सफल अध्यापक और विद्वान् कम ही हुए हैं। इनके प्रमुख ग्रंथ 'योग-प्रवाह', 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', 'सूरदास' और 'मकरंद' हैं। हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों की खोज के सम्पादन, साहित्य-सर्जन और निरंतर अध्ययन में बहुत परिश्रम करने के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और अचानक सन् १९४४ में देहावसान हो गया। डॉक्टर बड़थ्वाल ने हिन्दी-साहित्य तथा भाषा-संबंधी समस्याओं और वाद-विवादों पर भी काफी लिखा है। जहाँ कहीं इन्होंने

विपक्ष के तर्कों का उत्तर दिया है, इनकी शैली बड़ी तीखी और चुटीली हो गयी है। इनकी भाषा व्यंग्यपूर्ण, मर्म को स्पर्श करनेवाली तथा हृदय पर सीधा प्रभाव डालने वाली है। इनके लेखों से हिन्दी-साहित्य को ऐसी नवीन तथा प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे अध्ययन का पथ-प्रशस्त हुआ है। मार्मिक उक्तियाँ, ओजपूर्ण कथन, तर्क तथा वक्तव्यों का समर्थन करने वाले उपयुक्त उदाहरण आपके लेखों को सारगर्भ और रोचक बना देते हैं। साहित्यिकता तथा विदग्धता आपके निबन्धों का विशेष गुण है।

राहुल सांकृत्यायन

पं० राहुल सांकृत्यायन हिन्दी के उन लेखकों में से थे जिनकी लेखनी सदा झरने की तरह चलती रहती थी। आप अनेक भाषाओं के पंडित और लम्बी-लम्बी या कठिन यात्राओं के बड़े प्रेमी थे। आपने साहित्य, विज्ञान, धर्म, दर्शन, कला व संस्कृति आदि गंभीर विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं। आपके कई दर्जन उपन्यास, कहानियाँ और लेख आदि प्रकाशित हो चुके हैं। सरल, प्रभावशाली, प्रवाहपूर्ण भाषा में गंभीर से गंभीर विषयों को भी बहुत रोचक ढंग से प्रस्तुत करने में आप सिद्ध-हस्त थे। व्यक्तियों व स्थानों के सूक्ष्म वर्णन द्वारा आप किसी प्रदेश का सम्पूर्ण और रोचक चित्र अंकित करने में बहुत पटु थे। आपने अपनी यात्राओं और जीवन के अनुभवों को लिखकर पाठकों के लिए अत्यन्त रोचक व स्थायी महत्त्व की सामग्री प्रस्तुत कर दी है। आपकी रचनाओं में विद्वानों और साधारण व्यक्तियों दोनों प्रकार के पाठकों के लिए ज्ञान व मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री है। अप्रैल सन् १९६३ को दीर्घ रुग्णता के पश्चात् आपका महाप्रयाण हो गया।

महादेवी वर्मा

हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री सुश्री महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ में फर्रुखाबाद के एक शिक्षित तथा शिष्ट परिवार में हुआ था। यह एक सफल गद्य-लेखिका व शैलीकार भी हैं। चित्रकार होने के कारण इनमें वस्तु-व्यापारों को बारीकी से देखने की अद्भुत क्षमता है। 'अतीत

के चलचित्र', 'शृंखला की कड़ियाँ', 'स्मृति की रेखाएँ' आदि इनकी सुप्रसिद्ध गद्य कृतियाँ हैं। ये प्रत्येक शब्द की पूरी-पूरी शक्ति को समझ कर अपनी भाषा में उसका प्रयोग करती हैं। वाक्य-रचना बहुत पुष्ट और सुशृंखलित होती है। इनकी गद्य-रचना में भी इनकी कविताओं की तरह प्रौढ़ता, गाम्भीर्य और व्यवस्था दिखायी पड़ती है। विचारों की सघनता के कारण इनकी गद्य-रचनाओं का स्तर भी सामान्य पाठक के स्तर से पर्याप्त ऊँचा रहता है; किन्तु जो कुछ भी आपकी लेखनी से निकलता है, वह पूर्ण परिष्कृत व प्रौढ़ होता है। यही कारण है कि संख्या में थोड़ी होने के कारण भी गुण की दृष्टि से आपकी रचनाएँ आधुनिक हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। इनका जन्म २४ मार्च, सन् १९१५ को अतरौली (जिला अलीगढ़) में हुआ था। इन्होंने आगरा तथा नागपुर-विश्वविद्यालयों से एम० ए० (अँग्रेजी व हिन्दी) पास किया तथा "रीति साहित्य और देव" नामक विषय पर आगरा विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। आपकी आरम्भिक उठान कवि के रूप में हुई थी। 'वनमाला' (सन् १९३८) में तथा अन्य संग्रहों में इनकी कविताएँ संग्रहीत हैं।

इस समय हिन्दी के मूर्धन्य समीक्षकों में आपकी गणना की जाती है। 'साकेत : एक अध्ययन', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन', 'विचार और विश्लेषण', 'रीति साहित्य और देव', 'सुमित्रानंदन पंत', 'आधुनिक हिन्दी नाटक' आदि आपकी अत्यन्त प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनुवादित 'ध्वन्यालोक' आदि ग्रन्थों की सम्पादकीय भूमिकाएँ भी आपने लिखी हैं जिनसे आपके प्रगाढ़ पांडित्य का पता चलता है। कुछ स्वतंत्र निबन्ध भी लिखे हैं जिनसे इनकी लेखन-शैली का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

डॉ० नगेन्द्र की उच्च शैली पर अँग्रेजी गद्य शैली का पर्याप्त प्रभाव

है। इनकी भाषा शुद्ध व प्रवाहमयी खड़ी बोली है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही कहीं-कहीं बहुप्रचलित उर्दू-अँग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। आपकी भाषा बहुत समर्थ व पुष्ट है और विचारों के हल्के-गहरे सभी रंगों को पर्याप्त स्पष्टता से अभिव्यक्त कर देती है। वाक्यों की सुश्रृंखलता, विचारों की प्रौढ़ता, स्पष्टता व गंभीरता तथा विषय पर पूर्ण अधिकार को व्यक्त करती है। डॉ० नगेन्द्र का साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त गतिशील है। इन्होंने भारतीय व पाश्चात्य समीक्षा पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन करके उनमें सुष्ठु सामंजस्य बैठाया है और इस सामंजस्य के उत्पन्न रस को अपनी विचार-पद्धति में पचाकर उसके द्वारा अपनी आलोचना को स्वस्थ, ताजा व प्राणवान् बनाया है।

भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव धर्म-समाज कालेज, अलीगढ़ में विज्ञान के प्राध्यापक हैं। इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की है। ये पहले काशी से प्रकाशित होने वाले 'आज' में नियमित रूप से लिखा करते थे। तत्पश्चात् इन्होंने लखनऊ से प्रकाशित होने वाली 'विश्वभारती' के सम्पादन में सहयोग दिया। आगरा से प्रकाशित होने वाले मासिक-पत्र 'विज्ञान-लोक' के आप सम्पादक रह चुके हैं। विज्ञान-सम्बन्धी अध्ययन-अध्यापन में आपको विशेष रुचि है। हिन्दी में विज्ञान से सम्बन्धित विषयों पर लिखने वाले इने-गिने व्यक्तियों में आप प्रमुख हैं।

एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न

[*भारतेन्दु हरिश्चन्द्र*]

आज रात को पर्यङ्क पर जाते ही अचानक आँख लग गयी। सोते में सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीं। इस संसार में नाम स्थिर रहने की कोई युक्ति निकल आये तो अच्छा है, क्योंकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण भर का भरोसा नहीं। देखो, समय-सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। कालवश शशि, सूर्य भी नष्ट हो जायेंगे। आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आयेंगे। केवल कीर्ति-कमल संसार-सरोवर में रहे या न रहे और सब तो एक दिन तप्त तवे की बूँद हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच-समझ प्रथम यह विचार किया कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ; परन्तु थोड़ी ही देर में समझ में आ गया कि इन दिनों की सभ्यता के अनुसार इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं और यह तो मुझे भली भाँति मालूम है कि यही अँगरेजी शिक्षा रही तो मन्दिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। फिर पड़े-पड़े पुस्तक रचने की सूझी, परन्तु इस विचार में बड़े काँटे निकले, क्योंकि बनाने की देर न होगी कि 'कीट समालोचक' काटकर आधी से अधिक निगल जायेंगे। यश के स्थान शुद्ध अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे-फूटे विचार से काम न चलेगा तब लाड़िली नींद को दो रात पड़ोसियों के घर भेज आँख बन्द कर शम्भु की-सी समाधि लगा गया। यहाँ तक कि इकसठ व इक्कावन वर्ष उसी

ध्यान में बीत गये। अन्त को एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ में पड़ गयी। स्वप्न ही में प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का विचार दृढ़ किया; परन्तु जब थैली में हाथ डाला तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मोहरें निकलीं। आप जानते हैं, इतने में मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था। निदान अपने इष्ट-मित्रों की भी सहायता लेनी पड़ी। ईश्वर को कोटि धन्यवाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटों के ठौर मुहर चुनवा लेते तब भी तो दस-पाँच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते-होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमें जितना समस्त व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है; परन्तु इतना अपने मुंशी से मैंने सुना था कि एक का अंक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी में पड़े थे। बनने को तो एक क्षण में सब बन गया था; परन्तु उसके काम जोड़ने में पूरे पैंतीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई, उसी दिन हमने हिमालय की कन्दराओं में से खोज-खोजकर अनेक उद्दंड पण्डित बुलवाये। इस पाठशाला में अन-गिनत अध्यापक नियत किये गये; परन्तु मुख्य केवल ये हैं—पंडित मुग्धमणि शास्त्री, तर्क-वाचस्पति—प्रथम अध्यापक। पाखण्डप्रिय धर्माधिकारी—अध्यापक धर्मशास्त्र। प्राणान्तक-प्रसाद वैद्यराज—अध्यापक वैद्यकशास्त्र। लुप्तलोचन ज्योतिषा-भरण—अध्यापक ज्योतिष-शास्त्र। शीलदावानल नीति-दर्पण—अध्यापक नीति-शास्त्र और आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पंडितों के आ जाने पर अर्धरात्रि गये पाठशाला खोलने बैठे। उस समय सब इष्ट-मित्रों के सम्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिये, जो संसार को बनाकर क्षण भर में नष्ट कर देता है, और जिसने विद्या, शील, बल के सिवा मन,

मूर्खता, परद्रोह, परनिंदा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है। हम कोटि धन्यवादपूर्वक आज इस सभा के सम्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशंसा करते हैं जिसके प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पड़ी। उस ईश्वर को ही अंगीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे, नहीं तो जब द्रव्य की खोज में समुद्र में डूबते-डूबते बचे थे तब कौन जानता था कि हमारी कपोल-कल्पना सत्य हो जायगी। परन्तु ईश्वर के अनुग्रह से हमारे सब संकट दूर हुए और अन्त समय हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्ट-मित्रों की सहायता को कभी न भूलेंगे, जिनकी कृपा से इतना द्रव्य हाथ आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया, और दस-पाँच पीढ़ी तक हमारी संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र, परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें। हे सज्जनो! यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन-मन से आप इस धर्म-कार्य में प्रवृत्त हुए, नहीं मैं दो हाथ-पैर वाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन कीड़ा था, जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता, यहाँ तो घर की केवल मूछें ही मूछें थीं। कुछ मेंह, कुछ गंगाजल। काम आपकी कृपा से भली भाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को अनेक साधनों से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किये। हे सुजन शुभचिंतको! संसार में पाठशाला अनेक हुई होंगी, परन्तु हरि-कृपा से जो आप लोगों की सकल पूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी अचरज नहीं कि आपने इस जन्म में न देखी-सुनी हो। होनहार बलवान् है, नहीं तो कलिकाल में ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए, यह हम लोगों के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्धमणि

शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गये, जिनको सत्ययुग के आदि में इंद्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और बन-जंगलों में खोजता फिरा। अंत को हार मान वृहस्पति को रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैं कि यह हमारे भाग्य ही की महिमा थी कि वे ही पंडितराज मृगयाशील श्वान के मुख में शशा के धोखे, बदरिकाश्रम की एक कन्दरा में पड़ गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा करते दिन में सरस्वती भी लजाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पंडित मूर्ख और अबोध पंडित हो जायेंगे। हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं, इनका नाम पण्डित पाखंडप्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मान्यता थी। सब स्त्री-पुरुषों को इन्होंने मोह रखा था; परन्तु अब कालचक्र के मारे अँग्रेजी पढ़े हिन्दुस्तानियों ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई में हरित दूर्वा पर सन्तोष कर अपना काल-क्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज्य था, दृष्टि बचा कर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान-श्रृगाल के संग दिन काटने पड़े! फिर भी इनको बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक कार्तिक मास भी इनको लोग थिर रहने देंगे तो हरि की कृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार-पाँच दिन में पानी फेर देंगे। इनसे भिन्न पण्डित प्राणान्तक प्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैं। जब तक इस घट में प्राण हैं तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी न बन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त संसार में विख्यात हैं। चिकित्सा में ऐसे कुशल हैं कि चिता पर चढ़ते-चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो, क्षण भर में स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधि नहीं देते उसी समय तक प्राणी

के संसारी बिथा लगी रहती है। आप कुछ काल अपेक्षा कीजिए। इनकी चिकित्सा और चतुराई आप प्रकट हो जायगी। यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परन्तु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दण्ड पण्डित हैं। ज्योतिष विद्या में अति कुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूँढ़ आये हैं, और कितने ही नवीन ग्रन्थों की भी रचना कर डाली हैं। उनमें से 'तामिस्रमकरालय' प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं है, परन्तु तारे इनकी आँखों में भली भाँति बैठ गये हैं।

रहे पण्डित शीलदावानल नीति-दर्पण। इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा-सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बालब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु भर नीति-शास्त्र पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी, परन्तु बेन, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि अनेक मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है तो अँग्रेजी न्यायकर्त्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें! अब आप सब सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिन्ता न करें; क्योंकि प्रथम तो अभी दस-पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बाँध देंगे, नहीं यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला-सम्बन्धी द्रव्य हो उसको वे सब मिलकर नास लिया करें।

अध्ययन

यह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का एक काल्पनिक तथा व्यंग्यात्मक निबन्ध है। लेखक ने बड़ी ही रोचक शैली में तत्कालीन विद्यालयों की परिस्थिति का अति सुन्दर विवेचन किया है। अध्यापकों के नाम ही पाठशाला के अनुपम होने के साक्षी हैं।

पर्यङ्क=पलँग, शय्या। **कीट-समालोचक**=समालोचक रूपी कीड़े। **मुग्धमणि**=मूर्खों में मणि के समान। **प्राणान्तक प्रसाद**=जिसके उपचार से रोगी के प्राणों का अन्त हो जाय। **शीलदावानल**=शील को दावाग्नि की भाँति जलाने वाले। **नीति-दर्पण**=नीति के दर्पण, जिस प्रकार दर्पण में पड़ा प्रतिबिम्ब झूठा होता है, उसी प्रकार उनके हृदय पर पड़ा प्रभाव भी झूठा होता है।

अंगीकार=स्वीकार। **डहडहे**=गहरे रंग के, हरे-भरे। **मृगयाशील**=शिकारी। **काल-क्षेप**=समय बिताना। **तामिस्रमकरालय**=अंधकार रूपी मगरों का घर अर्थात् अंधकार रूपी मगरों से भरा समुद्र। **नास लेना**=नाक से ग्रहण करना, अर्थात् सूँघ लेना।

प्रश्न

१—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गद्य शैली की आलोचना कीजिए।

२—आधुनिक गद्य-निर्माता के रूप में भारतेन्दु के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

३—'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' लिखने में लेखक का क्या उद्देश्य है?

कवि और चितेरे की डाँड़ामेड़ी

[बालकृष्ण भट्ट]

इन दोनों की डाँड़ा-मेड़ी हम इसलिए कहते हैं, कि मनुष्य तथा प्रकृति के भावों को ये दोनों ही प्रकट किया चाहते हैं—कवि लेखनी और शब्दों के द्वारा, चितेरा अपनी 'तूलिका' (रंग भरने की कूँची) और भाँति-भाँति के चित्र-विचित्र रंगों से। काम दोनों का बहुत बारीक और अति कठिन है। केवल इतना ही नहीं, किंतु एक प्रकार की लोकोत्तर प्रतिभा दोनों के लिए आवश्यकीय है। किसी कवि का यह श्लोक हमारे इस आशय को भरपूर पुष्ट करता है—

नामरूपात्मकं विश्वं यदिवं दृश्यते द्विधा।
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः॥

अर्थात्—नाम और रूपात्मक जो दो प्रकार का यह संसार देख पड़ता है, उसमें से आदि अर्थात् नामात्मक जगत् का निर्माण-कर्त्ता कवि है, और दूसरे का ब्रह्मा।

जानीते यन्न चन्द्राकौं जानन्ते यन्न योगिनः।
जानीते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम्॥

अर्थात्—इस दृष्ट जगत् के साक्षी-रूप सूर्य और चन्द्रमा जिस बात को नहीं जानते, परोक्ष, ज्ञानवान् योगीजन जिसे नहीं जानते और किसकी कहें, सर्वज्ञ सदाशिव भी जो बात नहीं जानते, उसे कवि अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से जान लेता है।

कवि की प्रतिभा जिस भाव के वर्णन से लोकोत्तर चातुरी प्रकट कर दिखाती है, उसी को अच्छा निपुण चितेरा अपनी

प्रतिभा से चित्र के द्वारा दिखला लेता है। अच्छा चितेरा कवि के एक-एक श्लोक या दोहे के नीचे उसी भाव की ठीक तस्वीर खींच सकता है और तब इन दोनों में कहाँ तक तुलना है इसका ठीक परिज्ञान हो सकता है; किंतु इन दोनों की कारीगरी के परीक्षक भी बड़े निपुण होने चाहिए। दोनों के काम की बारीक और सूक्ष्म सौंदर्य के देखने को पैनी दृष्टि चाहिए। इस तरह के परीक्षक कोई विरले नागरिक जन होते हैं। उत्तम काव्य तथा चित्र के समझने को एक ही तरह की सूक्ष्म और तीखी समझ चाहिए। कवि और चित्रकार की कल्पना-शक्ति भी बिलकुल एक-सी है।

अब रहा 'उपादान-कारण' या सामान, अर्थात् कवि के लिए वाग्-विभव और चितेरे के लिए रंग का चटकीलापन इत्यादि। सो जिसके पास जैसा होगा, वैसा ही यह काव्य तथा चित्र बना सकेगा; क्योंकि कवि तथा चितेरे के लिए वाह्य वस्तु जैसे वन, नदी, पर्वत आदि के वर्णन की अपेक्षा मानसिक भावों का प्रकाशन कविता तथा चित्र के द्वारा अधिक कठिन है। जिसे चित्रकार रंग की जरा-सी झाँई में प्रकट कर दिखाता है उसी का प्रकट करना कवि के लिए इतना दुरूह है कि वेहद दिमाग-पच्ची करने पर दो-चार इन सत्कवियों ही के काव्य में यह खूबी पायी जाती है। फिर भी उतनी सफाई काव्य में न आवेगी। चित्र में अंतर्लीन मनोगत भाव सहज में दर्शाया जा सकता है। मनोगत भावों का प्रकाश कालिदास और शेक्सपियर, इन्हीं दो के काव्यों में विशेष पाया जाता है। मनोगत भाव—जैसे हर्ष, शोक, भय, घृणा, प्रीति इत्यादि—के उदाहरण साहित्य-दर्पण के तीसरे परिच्छेद में अच्छी तरह संगृहीत कर दिये गये हैं। यह बात कवि और चितेरे में बताने और सिखाने से उतनी नहीं आती

जितनी स्वाभाविक बोध से होती है; किन्तु फिर भी फर्क इतना ही रहेगा कि कवि जिस आशय या भाव को बहुत-से शब्दों में लावेगा, उसे चित्रकार तूलिका के एक हल्के-से झोंक में प्रकट कर देगा और कवि के वर्णित आशय का स्वरूप सामने खड़ा कर देगा।

चित्रकारी से कविता में इतनी विशेष बात है कि चित्र उतना चिरस्थायी न रहेगा, जितनी कविता रह सकती है। तस्वीर तथा काव्य से मनुष्य की प्रकृति का पूरा परिचय मिल जाता है। हमारे देश के भद्दी पसंद के महाजनों तथा मारवाड़ियों की दूकानों पर बनारस की बनी निहायत भद्दी देवताओं की भोंड़ी तस्वीरों के सिवा और कुछ न पाइयेगा—जिन तस्वीरों की भद्दी चित्रकारी के सामने मानों कलकत्ते का 'आर्ट स्टूडियो' और पूना की चित्रशाला झख मारती है। इनकी निराली पसंद के ठीक उपयुक्त "दानलीला", "मानलीला" इत्यादि के आगे हम लोगों के प्रौढ़ लेख की चातुरी कब इनके मन में स्थान पा सकती है? किसी ने कहा है—

"ये गाहक करबीन के तुम लीनी कर बीन।"

इसी तरह प्रकृति-प्रेमियों को शान्ति-उत्पादक वन, पर्वत, आश्रम, नदी का पुलिन, ऋतु, हरियाली आदि के चित्र पसंद आते हैं। उनके स्थान पर जाने से प्रायः ऐसे ही चित्र पाइयेगा। किसी अँगरेजी के विद्वान् का कथन है—"A picture in the room is the picture of the mind of the man who hangs it" अर्थात् कमरे में लटकी हुई तस्वीर लटकाने वाले के मन की तस्वीर है। इसी तरह यदि भक्तजनों के घर जाइये, तो संत, महंत, महापुरुषों के चित्र पाइयेगा, जिनके देखने मात्र से एक अद्भुत शांत-रस का उद्गार मन में आ जायगा।

'पालिटिक्स' की मदिरा के नशे में चूर प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों के स्थान पर क्रामवेल, विस्मार्क-सरीखे पटु बुद्धिवालों का चित्र देखियेगा। बाल-विवाह की सर्वस्व नाश करनेवाली कुरीति ने हिन्दू-जाति की संतानों की बुद्धि और उपचय को कहाँ तक सत्यानाश में मिलाया। किस घृणित दशा में इनको पहुँचा दिया और इस कुरीति की विषम वायु से बचकर मनुष्य बल, पुष्टता, तेज, कांति, सौंदर्य का कहाँ तक संचय कर सकता है, इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिए हमें चाहिए कि मुगल तथा योरप-देश के कमनीय बालक, युवती और दृढ़ांग पुरुषों की कुछ तस्वीरें अपनी चित्रकारी में टाँग रक्खें और सदैव उनको देखा करें।

कवि और चितेरे में कहाँ तक डाँड़ामेड़ी या परस्पर की स्पर्द्धा है—इसे हम अपने पाठकों को दरशा चुके हैं। अब इन दोनों में अंतर केवल इतना ही है कि सभ्यता का सूर्य ज्यों-ज्यों उठता हुआ मध्याह्न को पहुँचता जाता है त्यों-त्यों चित्रकारी में नयी-नयी तराश-खराश की बारीकी चौगुनी होती जाती है; पर कवियों की वाग्देवी जिस सीमा को पहले जमाने में पहुँच चुकी है उससे बराबर अब तक घटती ही गयी। यद्यपि हाल की सभ्यता, बुद्धि-वैभव, शाइस्तगी के मुकाबिले वह जमाना बहुत पीछे हटा हुआ था। लार्ड मैकाले ने अपने एक लेख में इस बात को बहुत अच्छी तरह सिद्ध कर दिखाया है। मैकाले कहते हैं कि लोग इस सभ्यता के समय दर्शन, विज्ञान और दूसरी-दूसरी बुद्धि का विकास करनेवाली बातों में प्रवीणता प्राप्त कर पहले की अपेक्षा अधिक सोच सकते हैं। अनेक ग्रंथों के सुलभ हो जाने से अधिक जान सकते हैं सही, किन्तु उस अपनी सोची या जानी हुई बात को बुद्धि की अधिक पैनी आँख से देखना उन पुराने कवियों ही को आता था। इसमें संदेह नहीं, इन दिनों

के विशेषज्ञ विद्वान् तर्क बहुत अच्छा कर सकेंगे । जो बात उनके तर्क की भूमिका है, उसका रूप खड़ा कर देंगे । अत्यन्त साधारण बात को अपने वाग्जाल से महाजगड्वाल कर डालेंगे, विज्ञान और शिल्प में नयी-नयी ईजाद कर खुदाई का भी दावा करने को सन्नद्ध हो जायँगे; पर उन कवियों की प्रतिभा-स्वरूप सूक्ष्म बुद्धि की छाया भी न पा सकेंगे जिसे उन्होंने दो अक्षर के एक शब्द में सरस और गम्भीर भावपूर्ण करके प्रकट किया है, उसे ये आधे दर्जन शब्दों में भी न प्रकाशित कर सकेंगे। हमारे कवियों की पैनी बुद्धि का कारण यह भी है कि पूर्वकाल में जब हमारी समाज बालक-दशा में थी, उनके लिए 'ज्ञातव्य विषय' (जानने के लायक बात) बहुत थोड़े थे ! जिधर उन्होंने नजर दौड़ायी, उधर ही उन्हें नये-नये जानने के योग्य पदार्थ मिलते गयें । बुद्धि उनकी विमल थी, चित्त में किसी तरह का कुटिल भाव नहीं आने पाया था, क्योंकि समाज अब के समान प्रौढ़ दशा को नहीं पहुँची थी; इसलिए बहुत बातों से सभ्यता की बुरी हवा का झकोरा भी उन शिष्ट पुरुषों तक न पहुँच सका था। जब पात्र बड़ा होगा, तो जो वस्तु उस पात्र में रक्खी जायगी वह कम होगी, तो वह वस्तु उसमें बहुत अच्छी तरह समा सकेगी । बुद्धि उनकी जैसी तीव्र और विमल थी, वैसा ही मन में उनके किसी तरह की कुटिलता और मैल न रहने से जिस बात के वर्णन में उन्होंने अपने खयाल को रुजू किया, वह सांगोपांग पूरा उतरा । तात्पर्य यह है कि एक कविता के लिए यह नयी सभ्यता विष हो गयी, दूसरी अर्थात् चित्रकारी के लिए वह अमृत का काम दे रही है। इसी से काव्य दिन-दिन घटता गया, और चित्रकारी रोज-रोज बढ़ती गयी ।

अध्ययन

'कवि और चितेरे की डाँड़ामेड़ी' बालकृष्ण भट्ट के अधिक प्रचलित निबंधों में से नहीं है। यह उनके अन्य लेखों की अपेक्षा अधिक गम्भीर तथा विवेचनात्मक है। इसमें तूलिका तथा लेखनी के क्षेत्रों का विवेचन तथा उनके अन्तर पर लेखक ने प्रकाश डाला है।

चितेरा=चित्रकार। **डाँड़ामेड़ी**=होड़। **लोकोत्तर**=संसार में न पाया जानेवाला। **ये गाहक⋯करवीन**=ये करवी (ज्वार का पौधा) के ग्राहक हैं और तुम इनके लिए हाथ में वीणा लेकर आये हो। **पालिटिक्स**=राजनीति। **क्रामवेल**=इंगलैण्ड का प्रसिद्ध जननायक जिसने इंगलैण्ड के सम्राट् चार्ल्स प्रथम को पराजित करके जनता का साम्राज्य स्थापित किया था। **विस्मार्क**=जर्मनी का प्रसिद्ध नेता जिसने जर्मनी के विभिन्न राज्यों का एकीकरण तथा संगठन किया था। **उपचय**=उन्नति, संचय। **वाग्देवी**=वाणी, सरस्वती। **लार्ड मैकाले**=इंगलैण्ड का प्रसिद्ध विद्वान् तथा राजनीतिज्ञ। **रुजू (अरबी)**=प्रवृत्त करना। **सांगोपांग**= अंगों और उपांगों सहित, सम्पूर्ण।

प्रश्न

१—श्री बालकृष्ण भट्ट की शैली की विवेचना करते हुए एक लेख लिखिए।

२—श्री बालकृष्ण भट्ट का हिन्दी गद्य के निर्माताओं में स्थान निर्धारित कीजिए।

'ट'

[प्रतापनारायण मिश्र]

इस अक्षर में न तो 'लकार' का सा लालित्य है न 'दकार' का सा दुरूहत्व, न 'मकार' का सा ममत्व-बोधक गुण; पर विचार करके देखिए तो यह शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुआ है! सूक्ष्म विचार करके देखो तो फारस और अरब की ओर के लोग निरे छल के रूप, कपट की मूरत नहीं होते, अप्रसन्न होके मरना-मारना जानते हैं, जबरदस्त होने पर निर्बलों को मन-मानी रीति पर सताना जानते हैं, बड़े प्रसन्न हों तो तन-मन-धन से सहायता करना जानते हैं, जहाँ और कोई युक्ति न चले वहाँ निरी खुशामद करना जानते हैं, पर अपने रूप में किसी तरह का बट्टा न लगने देना और रसाइन के साथ धीरे-धीरे हँस-खिला के अपना मतलब गाँठना, जो नीति का प्राण है, उसे बिलकुल नहीं जानते।

इतिहास लेके सब बादशाहों का चरित्र देख डालिए। ऐसा कोई न मिलेगा, जिसकी भली या बुरी मनोगति बहुत दिन तक छिपी रह सकी हो। यही कारण है कि उनकी वर्णमाला में 'ट' वर्ग हुई नहीं। किसी फारसी से टट्टी कहलाइए तो मुँह बीस कोने का बनावेगा, पर कहेगा तत्ती। टट्टी की ओट में शिकार करना जानते ही नहीं, उन विचारों के यहाँ 'टट्टा' का अक्षर कहाँ से आवे। इधर हमारे गौरांगदेव को देखिए। शिर पर हैट, तन पर कोट, पाँवों में पैंट और बूट, ईश्वर का नाम आल्माइटी (सर्वशक्तिमान), गुरु का नाम ट्यूटर, मास्टर (स्वामी को भी कहते हैं) या टीचर, जिससे

प्राप्ति हो उसकी पदवी मिस्ट्रेस, रोजगार का नाम ट्रेड, नफा का नाम बेनीफिट, कवि का नाम पोयट, मूर्ख का नाम स्टुपिड, खाने में टेबिल, कमाने में टैक्स। कहाँ तक इस टिटिल-टेटिल (बकवाद) को बढ़ावें कोई बड़ी डिक्शनरी (शब्दकोष) को लेके ऐसे शब्द ढूँढ़िए जिनमें 'टकार' न हो तो बहुत ही कम पाइयेगा। उनके यहाँ 'ट' इतना प्रविष्ट है कि तोता कहाइये तो टोटा कहेंगे। इसी 'टकार' के प्रभाव से नीति में सारे जगत् के मुकुट-मणि हो रहे हैं। उनकी पालिसी समझना तो दरकिनार, किसी साधारण पढ़े-लिखे से पालिसी के माने पूछो तो एक शब्द ठीक-ठीक न समझा सकेगा।

इससे बढ़ के नीतिनिपुणता क्या होगी कि रोजगार में, व्यवहार में, कचहरी में, दरबार में, जीत में, हार में, बैर में, प्यार में, लल्ला के सिवा दद्दा जानते ही नहीं। रीझेंगे तो भी जियाफत लेंगे, नजर लेंगे, तुहफा लेंगे, सौगात लेंगे और इन सैकड़ों हजारों के बदले देंगे क्या "श्री ईसाई" (सी० एस० आई०) की पदवी, या एक कागज के टुकड़े पर सर्टिफिकेट, अथवा कोरी थैंक (धन्यवाद) जिसे उर्दू में लिखो तो ठेंग अर्थात् हाथ का अँगूठा पढ़ा जाये ! धन्य री स्वार्थ साधकता ! तभी तो सौदागरी करने आये, राजाधिराज बन गये। क्यों न हो, जिनके यहाँ बात-बात पर 'टकार' भरी है, उनका सर्वदा सर्वभावेन सब किसी का सब कुछ डकार जाना क्या आश्चर्य है, नीति इसी का नाम है। 'टकार' का यही गुण है कि जब सारी लक्ष्मी विलायत ढो ले गये तब भारतीय लोगों की कुछ-कुछ आँखें खुली हैं। पर अभी बहुत कुछ करना है। पहले अच्छी तरह आँखें खोलकर देखना चाहिए कि यह अक्षर जैसे अँगरेजों के यहाँ है वैसे ही हमारे यहाँ भी है, पर

भेद इतना है कि उनकी "टी" की सूरत ठीक एक ऐसे काँठे की सी है कि नीचे से पकड़ के किसी वस्तु में डाल दें तो जाते समय कुछ न जान पड़ेगा, पर निकालते समय उस वस्तु को दोनों हाथों अपनी ओर खींच लावेगा। प्रत्यक्ष देख लो कि यह जिसका स्वत्व हरण किया चाहते हैं उसे पहले कुछ भी ज्ञान नहीं होता, पीछे से जो है सो इन्हीं का। और अपनी वर्ण माला का "ट" एक ऐसे आँकड़े के समान है जिसे ऊपर से* पकड़ सकते हैं, और हर पदार्थ में प्रविष्ट कर सकते हैं, पर उस वस्तु को यदि सावधानी से अपनी ओर खींचे तो कुशल है, नहीं तो कोरी मिहनत होती है ! इसी से हम जिन बातों को अपनी ओर खींचना आरम्भ करते हैं, उनमें 'टकार' के नीचे वाली नोक की भाँति पहले तो हमारी गति खूब होती है, पर पीछे से जहाँ दृढ़ता में चूके वहीं संठ के संठ रह जाते हैं।

दूसरा अन्तर यह है कि अँगरेजों के यहाँ "टी" सार्थक है और हमारे यहाँ एक रूप से निरर्थक। अँगरेजी में "टी" के माने चाय के हैं, जो उनके पीने की चीज है अर्थात् वे अपना पेट भरना खूब जानते हैं; पर हमारे यहाँ "ट" का कुछ अर्थ नहीं है। यदि टट्टा कहो तो भी हानिकारक ही अर्थ निकलता है, घर में टट्टा लगा हो तो न हम बाहर जा सकते हैं, अर्थात् अन्य देश में जाते ही धर्म और बिरादरी में बदनाम होते हैं, और बाहर की विद्या, गुण आदि हमारे हृदय-मन्दिर के भीतर नहीं आ सकते। आवें भी तो हमारे भाई चोर-चोर कहके चिल्लायँ, यह अनर्थ ही तो है।

---

*नीचे से पकड़ना अर्थात् उसके मूल को ढूँढ के काम में लाना और ऊपर से पकड़ना अर्थात् दैवाधीन समझकर कर उठना।

तीसरा फर्क लीजिए, जितना उनके यहाँ "ट" का खर्च है उतना हमारे यहाँ है नहीं। तिस पर भी हम अपने यहाँ के 'ट' का बर्ताव बहुत अच्छी रीति में नहीं करते। फिर कहाँ से पूरा पड़े। 'टकार' का अक्षर नीतिमय है, उस नीतिमय अक्षर को बुरी रीति से काम में लाना बुरा ही फल देता है। हम ब्राह्मण हैं तो टीका (तिलक) और चोटी सुधारने में घंटों बिता देते हैं। यह काम स्त्रियों के लिए उपयोगी था। हमें चाहिए था वास्तविक धर्म पर अधिक जोर देते। यदि हम क्षत्री हैं तो टंटा-बखेड़ा में पड़े रहते हैं। यह काम चाहिए था शत्रुओं के साथ करना न कि आपस में, यदि हम वैश्य हैं तो केवल अपना ही टोटा (घटी) या नफा विचारेंगे। इससे सौदागरी का सच्चा फल नहीं मिलता। यदि हम अमीर हैं तो सैकड़ों रुपया केवल अपना टिमाक बनाने में लगा देंगे, टेसू बने बैठे रहेंगे। इससे तो यह रुपया किसी देश-हितकारी काम में लगाते तो अच्छा था। पढ़े-लिखे हैं तो मतवाद में टिलटिलाया करेंगे, कोई काम करेंगे तो अंट-संट रीति से, सरतारे होंगे तो टाल-मटोल किया करेंगे।

इस ऊटपटाँग कहानी को कहाँ तक कहिए। बुद्धिमान् विचार सकते हैं कि जब तक हमारी यह टेंव न सुधरेगी, जब तक हमारे देश में ऐसी ही टिचर्र फैली रहेगी तब तक हमारे दुख दरिद्र भी न टलेंगे। दुर्दशा यों ही टेटुआ दबाये रहेगी! हमें अति उचित है कि इसी घटिका से अपनी टूटी-फूटी दशा सुधारने में जुट जायँ। विराट् भगवान् के सच्चे भक्त बनें। जैसे संसार का सब कुछ उनके पेट में है, वैसे ही हमें भी चाहिए कि जहाँ से जिस प्रकार जितनी अच्छी बातें मिलें, सब अपने पेट के पिटारे में भर लें और देश भर को उनसे पाट दें, भारत-वासी मात्र को एक बाप के बेटे की तरह प्यार करें, अपने-अपने

नगर में नेशनल कांग्रेस की सहायक कमेटी कायम करें, ऐन्टी कांग्रेसवालों की टाँय-टाँय पर ध्यान न दें। बस नागर नट की दया से सारे अभाव झटपट हट जायँगे, और हम सब बातों में टंच हो जायँगे। यह 'टकार' निरस सी होती है, इससे इसके सम्बन्धी आरटिकिल में किसी नटखट सुन्दरी की चटक-मटक भरी चाल और गालों पर लटकती हुई लट, मटकती हुई आँखों के साथ हट। अरे हट! की बोलचाल का-सा मजा तो ला न सकते थे, केवल टटोल-टटाल के थोड़ी सी एडीटरी की टेक निभा दी है। आशा है कि इसमें की कोई बात टेंट में खोंस रखियेगा तो टका-पैसा भर गुण ही करेगी। बोलो- टेढ़ी टाँग वाले की जय!

अध्ययन

'ट' शीर्षकवाले इस लेख में लेखक ने चुटीली व व्यंग्य प्रधान शैली में पाश्चात्य व भारतीय जीवन के अंतर को बहुत सुन्दरता से प्रकट किया है। 'ट' अक्षर के साथ लेखक का विनोद कोरा विनोद नहीं, किंतु अर्थ-गर्भित विनोद है। उसमें देश के सुधार का स्वर ही मुख्य है।

दुरूहत्व=कठिनता। **रसाइन**=रसायन। **गौरांगदेव**=अंग्रेज। **जियाफत**=दावत। **काँठा**=नोकदार और पत्तीवाला शस्त्र।

प्रश्न

१—पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र की गद्य-शैलियों का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

२—'ट' नामक पाठ के लिखने में लेखक का क्या अभिप्राय है? भली भाँति समझाइए।

आशीर्वाद

[बालमुकुन्द गुप्त]

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पाँव वढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुनि में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ हो रहा था। बादाम-इलायची के छिलके उतारे जा रहे थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छील कर रस निकाला जा रहा था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी, इधर भंग उधर घटा, वहार में वहार। इतने में वायु का वेग वढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया। बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़-धड़धड़ होने लगी। देखा, ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई। "बम भोला" कहके शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिन्टो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में ये दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं, और लार्ड मिन्टो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराज जी ने खटिया पर लंबी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़धड़-तड़-तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोकों से किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे के टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के

किवाड़ खोलकर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंके ने दस-बीस बूँदों और दो-चार ओलों से शर्माजी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के भीतर भी ओलों की एक बौछार पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये, तथापि एक शीशा चूर हुआ। समझ में आ गया कि ओलों की बौछार चल रही है। इतने में ठन-ठन करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान टीन और ओलों के सम्मिलन की ठनाठन का मधुर शब्द सुनने लगे। आँखें बन्द, हाथ-पाँव सुख में, पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घर में चले गये होंगे; पर वे चीलें कहाँ गयी होंगी? ओलों से उनके बाजू कैसे बचे होंगे; जो पक्षी इस समय अपने अंडे-बच्चों समेत पेड़ों पर पत्तों की आड़ में हैं या घोसलों में छिपे हुए हैं, उन पर क्या गुजरी होगी? जरूर झड़े हुए फलों के ढेर में कल सवेरे इन बदनसीबों के टूटे अण्डे, मरे बच्चे और उनके भीगे सिसकते शरीर पड़े मिलेंगे। हाँ, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सैकड़ों अट्टालिकाएँ शून्य पड़ी हैं। उनमें सहस्रों मनुष्य सो सकते; पर उनमें ताले लगे हैं और सहस्रों में केवल दो-दो, चार-चार आदमी रहते हैं। अहो, तिस पर भी इस देश की मिट्टी से बने सहस्रों अभागे सड़कों के किनारे इधर-उधर की सड़ी और गीली भूमियों में पड़े भीगते हैं। मैले चिथड़े लपेटे हुए वायु, वर्षा और ओलों का सामना

करते हैं। सबेरे इनमें से कितनों ही की लाशें जहाँ-तहाँ पड़ी मिलेंगी। तू इस चारपाई पर मौजें उड़ा रहा है ?

आन की आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आयी। भारत ! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ? कभी कोई हर्षसूचक बात दस-बीस पल के लिए चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिए। प्यारी भंग ! तेरी कृपा से कभी-कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। इसी से तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढ़ा भङ्गड़ क्या सुख का भूखा है ? घावों से चूर जैसे नींद में पड़कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी-कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है। जो बात इस समय है, वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी—भादों कृष्णा-अष्टमी की अर्द्धरात्रि। चारों ओर घोर अन्धकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंधती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्योजात शिशु को गोद में लिये, मथुरा के कारागार से निकल रहा था। शिशु की माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को भूलकर दुःख से विह्वल होकर चुपके-चुपके आँसू गिराती थी, पुकार कर रो भी नहीं सकती थी। बालक उसने उस पुरुष को अर्पण किया और कलेजे पर हाथ रखकर बैठ गयी। सुध आने के समय से उसने कारागार में ही आयु बितायी है। उसके

कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आँखों के सामने मारे गये। यह अंतिम बालक है। कड़ा कारागार, विकट पहरा; पर इस बालक को वह किसी प्रकार बचाना चाहती है, इसी से उस बालक को उसके पिता की गोद में दिया है कि वह उसे किसी निरापद स्थान में पहुँचा आवे।

वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। उसी को इस कठिन दशा में उस भयानक काली रात में वह गोकुल पहुँचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदाओं को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है। वसुदेव सब कष्टों को सहकर यमुना पार करके, भीगते हुए उस बालक को गोकुल पहुँचा कर उसी रात कारागार में लौट आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ। व्रज का प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ, जिधर वह हुआ, उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्व प्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव; स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत-संतान के लिए तीर्थ हुआ। वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई।

बर जमीने कि निशाने कफे पाये तो बुवद।
सालहा सिजदये साहिब नजराँ ख्वाहद बूद॥

(जिस भूमि पर तेरा पदचिह्न है, दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक उस पर अपना मस्तक टेकेंगे)

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है। "पञ्जाबी" के स्वामी और सम्पादक को जेल के लिए दुःख न करना चाहिए। जेल में कृष्ण ने जन्म लिया है। इस देश को सब कष्टों से मुक्त

करनेवाले ने अपने पवित्र शरीर को पहले जेल की मिट्टी से स्पर्श कराया। उसी प्रकार "पञ्जाबी" के स्वामी लाला यशवन्तराय ने जेल में जाकर जेल की प्रतिष्ठा बढ़ायी, भारतवासियों का सिर ऊँचा किया। अग्रवाल जाति का सिर ऊँचा किया। उतना ही ऊँचा, जितना कभी स्वाधीनता और स्वराज्य के समय अग्रवाल जाति का अग्रोहे में था। उधर एडीटर मि० अथावले ने स्थानीय ब्राह्मणों का मस्तक ऊँचा किया जो उनके गुरु तिलक को अपने मस्तक का तिलक समझते हैं। सुरेन्द्रनाथ ने बंगाल की जेल का और तिलक ने बंबई की जेल का मान बढ़ाया था। यशवन्तराय और अथावले ने लाहौर की जेल को वही पद प्रदान किया। लाहौरी जेल की भूमि पवित्र हुई। उसकी धूल देश के शुभचिन्तकों की आँखों का अञ्जन हुई। जिन्हें इस देश पर प्रेम है, वे इन दो युवकों की स्वाधीनता और साधुता पर अभिमान कर सकते हैं।

जो जेल चोर-डकैतों, दुष्ट-हत्यारों के लिए है उसमें जब सज्जन, साधु, शिक्षित, स्वदेश और स्वजाति के शुभ-चिन्तकों के चरणों का स्पर्श हो तो समझना चाहिए कि उस स्थान के दिन फिरे; ईश्वर की उस पर दया दृष्टि हुई। साधुओं पर संकट पड़ने से शुभ दिन आते हैं। इससे सब भारतवासी शोक-सन्ताप भूलकर प्रार्थना के लिए हाथ उठावें कि शीघ्र वह दिन आवे जब एक भी भारतवासी चोरी, डकैती, दुष्टता, व्यभिचार, हत्या, लूट-खसोट, जाल आदि दोषों के लिए जेल में न जायँ। जायँ तो देश और जाति की प्रीति और शुभ चिन्ता के लिए, दीनों और पददलित निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचाने के लिए, हाकिमों को उनकी भूलों और हार्दिक दुर्बलता से सावधान करने के लिए और सरकार को

सुमन्त्रणा देने के लिए। यदि हमारे राजा और शासक हमारे सत्य और स्पष्ट भाषण और हृदय की स्वच्छता को भी दोष समझें और हमें उसके लिए जेल भेजें तो वैसी जेल हमें ईश्वर की कृपा समझ कर स्वीकार करना चाहिए और जिन हथ-कड़ियों से हमारे निर्दोष देशबान्धवों के हाथ बँधें उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि हमारे ईश्वर में इतनी शक्ति न हो कि वह हमारे राजा और शासकों को हमारे अनुकूल कर सके और उन्हें उदारचित्त और न्याय-प्रिय वना सके तो इतना अवश्य करे कि हमें सब प्रकार के दोषों से बचाकर न्याय के लिए जेल काटने की शक्ति दे, जिससे हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारत के। इस देश के सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहें इसी देश में, चाहे जेल में, चाहे घर में। जब तक जियें, और जब प्राण निकल जायँ तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जायँ।

अध्ययन

यह लेख श्रीबालमुकुन्द गुप्त लिखित 'शिवशम्भु के चिट्ठे' से उद्धृत है। लेखक की व्यंग्यात्मक शैली का यह बड़ा ही सफल तथा प्रभावशाली उदाहरण है। लेख में ध्यान देने योग्य वात यह है कि लेखक ने विषय को कहाँ से उठाया है और कहाँ समाप्त किया है। भंग से आरम्भ करके जेल में कष्ट भोग कर देश के लिए प्राण देने की भावना में लेख की समाप्ति की है, पर विषय-विन्यास में एक विचार में से दूसरा विचार बहुत ही स्वाभाविक रूप में फूटता चला गया है। लेखक का उत्कट देश-प्रेम और दीन-हीन व्यक्तियों के प्रति प्रकट हुई हार्दिक करुणा लेख का मुख्य आकर्षण और प्राण है। कृष्ण-जन्म की संक्षिप्त कथा भी लेखक ने बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत प्रसंग में गूँथ दी है। लेखन-शैली आरम्भ में चटपटी है; किन्तु अन्त में विचारों के गाम्भीर्य के साथ ही भाषा प्रौढ़ व संयत हो गयी है।

तबीयत भुरभुरा उठी=चित्त आनन्द से उल्लसित हो उठा। लाल डिग्गी=कलकत्ते का एक स्थान। अभिषेक=तिलक, सिंचन। अभ्रस्पर्शी=आकाश को छूनेवाला। उत्ताल=ऊँची। सुषुप्ति=गहरी नींद। सद्योजात=जो अभी अभी उत्पन्न हुआ हो, तत्क्षण उत्पन्न। अधिष्ठाता=स्वामी। पञ्जाबी=लेखक के समय के एक समाचार पत्र का नाम। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी=कांग्रेस के सभापति, नरम दल के नेता। तिलक=श्री बाल गंगाधर तिलक, कांग्रेस के गरम दल के नेता, गीता-रहस्य के लेखक। हेममय=सोने की।

प्रश्न

१—बा० बालमुकुन्द गुप्त की गद्य-शैली की विषेपताएँ बताइए।

२—'भारत ! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ' ? इन शब्दों में लेखक की जो वेदना प्रकट हुई है, उसका प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर पल्लवन कीजिए।

३—प्रस्तुत लेख के आधार पर उस युग की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का वर्णन कीजिए, जिस युग में यह लेख लिखा गया था।

आत्म-कथा

[महावीरप्रसाद द्विवेदी]

मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।

आचार्यत्व की अनुपयुक्ति

यह लक्षण मुझ पर तो घटित होता है ही नहीं, क्योंकि मैंने कभी किसी को इक्का एक भी नहीं पढ़ाया। शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरण-रजःकण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कालेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कभी कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया ? विचार करने पर मेरी समझ में, इसका एकमात्र कारण मुझ पर कृपा करनेवाले सज्जनों का अनुग्रह ही जान पड़ता है। जो जिसका प्रेम-पात्र होता है उसे उसके दोष दिखायी नहीं देते। जहाँ दोष देख पड़ते हैं, वहाँ तो प्रेम का प्रवेश ही नहीं हो सकता। नगरों की बात जाने दीजिए, देहात तक में माता-पिता और गुरुजन अपने लूले, लँगड़े, काने, अन्धे, जन्म रोगी और महा-कुरूप लड़कों का नाम श्यामसुन्दर, मनमोहन, चारुचन्द्र और नयनसुख रखते हैं। जिनके कब्जे में अंगुल भर जमीन नहीं वे पृथ्वीपति और पृथ्वीपाल कहाते हैं। जिनके घर में टका नहीं वे करोड़ीमल कहे जाते हैं। मेरी आचार्य-पदवी भी कुछ इसी

तरह की है, पर इससे पदवीदाता जनों का जो भाव प्रकट होता है उसका अभिनन्दन मैं हृदय से करता हूँ। यह पदवी उनके प्रेम, उनके औदार्य, उनके वात्सल्य भाव की सूचक है। अतएव प्रेमपात्र मैं अपने इन सभी उदाराशय प्रेमियों का ऋणी हूँ। वात यह है कि—

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।

अर्थात् गुणों का सबसे बड़ा आधार प्रेम होता है, वस्तु विशेष नहीं। जो जिस पर कृपा करता है—जिसका प्रेम जिस पर होता—है वह उसे आचार्य क्या यदि जगद्गुरु समझ ले तो आश्चर्य की वात नहीं।

अहंकार का निरसन

तथापि, मेरी धृष्टता क्षमा की जाय, मुझे ऐसी बातों से, स्तुति और प्रशंसा से वहुत डर लगता है, क्योंकि वे अहंकार को जन्म देने वाली ही नहीं, उसे बढ़ाने वाली भी हैं, और इस अहंकार नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूँ। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर संधान किया, कभी किसी ग्रंथकार या ग्रंथ-प्रकाशक पर अपना रोब जमाया। उस जमाने में मेरी क्या हालत थी और अब क्या, इसका निदर्शन भर्तृहरि ने बहुत पहले ही कर रखा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः॥
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जब मुझ में ज्ञान की कुछ यों ही जरा-सी झलक थी तब मैं मदान्ध हाथी-सा हो रहा था—तब मुझमें अहंकार की मात्रा

इतनी अधिक थी कि मैं अपने को सर्वज्ञ समझता था; परन्तु किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से जब मुझे कुछ विज्ञ विद्वानों की संगति नसीब हुई और जब मैंने प्रकृत पंडितों की कुछ पुस्तकों का मनन किया, तब मेरी आँखें खुल गयीं, तब मेरा सारा अहंकार चूर्ण हो गया। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं तो महामूर्ख हूँ। नतीजा यह हुआ कि मेरी झूठी सर्वज्ञता का वह नशा उसी तरह उतर गया जिस तरह कि १०४ डिग्री तक चढ़ा हुआ ज्वर उतर जाता है।

मेरी झूठी विज्ञता के आवेश ने, मुझसे पूर्वावस्था में, अनेक अनुचित काम करा डाले, उस दशा में मुझसे जो दुष्कृत्य हो गये, उन्होंने मेरी आत्मा को कलुषित कर दिया। उन्होंने उस पर काला पर्दा-सा डाल रक्खा है। इस कारण मैं थोड़ा-सा प्रायश्चित्त करके उस पर्दे के बहुत न सही, थोड़े ही अंश को हटा ही देना चाहता हूँ।

शठ सेवक मैं, चर-अचर आप सभी भगवान।
दीन हीन मुझको अधम समझो दया निधान॥

अब मेरी आत्म-शुद्धि के लिए आप भी मुझे आज्ञा दीजिए—

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु हित्वा,
सेवासुधारसमहो नितरां पिब त्वम्।

अहंकार की व्याप्ति से बचने ही के लिए मैंने आज तक आमन्त्रित होने पर भी, साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को स्वीकार नहीं किया। अनेक महानुभावों ने जिस आसन की शोभा बढ़ायी उसी पर बैठना मेरे लिए बहुत बड़ी गुस्ताखी भी होती।

मैं क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है; परन्तु मैं क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रों और कृपालु हितैषियों को बहुत ही

कम है । उन्होंने मुझे अनेक पत्र लिखे हैं, अनेक उलाहने दिये हैं। अनेक प्रणयानुरोध किये हैं, वे चाहते हैं कि मैं अपनी जीवन-कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ । पर पूर्ण रूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझ में नहीं । अपनी कथा कहते मुझे संकोच भी वहुत होता है । उसमें कुछ तत्त्व भी तो नहीं । उससे कोई कुछ सीख भी तो नहीं सकता, तथापि जिन सज्जनों ने मुझे अपने कृपा-पात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी धृष्टता होगी । अतएव मैं अपने जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बातें, सूत्र रूप में, सुना देना चाहता हूँ । बड़े-बड़े लोगों ने इस विषय में मेरे लिए मैदान पहले ही से साफ भी कर रखा है ।

जीवन-कथा

मैं एक ऐसे देहाती का एक मात्र आत्मज हूँ जिसका मासिक वेतन सिर्फ १०) था । अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर १३ वर्ष की उम्र में मैं ३६ मील दूर रायबरेली के जिला स्कूल में अँग्रेजी पढ़ने गया । आटा-दाल घर से पीठ पर लाद कर ले जाता था । दो आने महीने फीस देता था । दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका करके पेट पूजा करता था । रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था । संस्कृत भाषा उस समय स्कूल में वैसे ही अछूत समझी गयी थी जैसी मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है । विवश होकर अँग्रेजी के साथ फारसी पढ़ता था । एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा । फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे । कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका । मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गयी ।

रेलवे की नौकरी

एक साल अजमेर में १५) महीने पर नौकरी करके, पिता के पास बम्बई पहुँचा और तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे में ५०) महीने पर तार बाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षित जनों की संगति करने की ओर थी, दैवयोग से हरदा और हुशंगाबाद में मुझे ऐसी संगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धांत या आदर्श निश्चित किये। यथा (१) वक्त की पावन्दी करना और (२) रिश्वत न लेना, (३) अपना काम ईमानदारी से करना और (४) ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत् प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धांतों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था, तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गयी। तार बाबू होकर भी टिकट बाबू, माल बाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करने वाले प्लेटलेयर (Permanent way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गयी। वह इस तरह कि एक दफे छोड़ कर मुझे कभी तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी। जब इण्डियन मिडलैंड रेलवे बनी और उसके दफ्तर झाँसी में खुले तब जी० आई० पी० रेलवे के मुलाजिम जो साहब वहाँ के जनरल ट्राफिक मैनेजर मुकर्रर हुए थे वे मुझे भी अपने साथ झाँसी लाये और नये-नये काम मुझ से लेकर मेरी पदोन्नति करते गये। इस उन्नति का प्रधान कारण मेरी ज्ञान-लिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुण-ग्राहकता थी। दस-बारह वर्ष

वाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गयी।

जव इण्डियन मिडलैंड रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गयी, तव कुछ दिन वम्वई में रहकर मैंने अपना तबादिला झाँसी को करा लिया। वहीं रहना मुझे अधिक पसन्द था। पाँच वर्ष मैं वहाँ डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में रहा। वे दिन मेरे अच्छे नहीं कटे। लार्ड कर्जन का देहली-दरबार उसी जमाने में हुआ था। मेरे गौरांग प्रभु अपनी रातें अपने बँगले या क्लव में विताते थे। मैं दिन भर दफ्तर का काम करके रात भर अपनी कुटिया में पड़ा हुआ, उनके नाम आये हुए तार लेता और उनके जवाव देता था। ये तार उन स्पेशल रेलगाड़ियों के सम्बन्ध में होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौड़ा करती थीं। उन चाँदी के टुकड़ों की वदौलत जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किये गये इस अत्याचार को महीनों वर्दाश्त किया।

नौकरी से त्याग-पत्र

मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूँगा तो उससे मेरी सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है; पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता; परन्तु कुछ समयोत्तर वानक ऐसा वना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर भी अत्याचार करना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्म-चारियों को लेकर रोज सुबह ८ बजे दफ्तर में आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज मेरे मेज पर मुझे रक्खे मिलें। मैंने कहा, मैं आऊँगा, पर औरों को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है। बस, बात बढ़ी और बिला किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफा दे दिया। बाद

को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं, शिफारिशें तक की गयीं, पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापस लेना चाहिए यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्ण होकर कहा, "क्या थूक कर भी उसे कोई चाटता है?" मैं बोला, नहीं, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने तो ।।) रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने, पिलाने और गृह-कार्य चलाने का दृढ़ संकल्प किया। और मैंने 'सरस्वती' की सेवा से मुझे हर महीने जो २०) उजरत और ३) डाकखर्च की आमदनी होती थी, उसी से संतुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा, किसी समय तो मुझे महीने में १५) ही मिलते थे; २३) तो उसके ड्योढ़े से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नहीं।

मेरे पूर्वज

मेरे पिता ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक पलटन में सैनिक वा सिपाही थे। मामूली हिन्दी पढ़े-लिखे थे। बड़े भक्त थे। सिपाहियाने काम से छुट्टी पाने पर राम-लक्ष्मण की पूजा किया करते थे। इसी से साथी सिपाहियों ने उनका नाम रक्खा था—लछिमनजी। गदर में पिता की पलटन बागी हो गयी। जो बच निकले वे बच गये। बाकी जवान तोपों से उड़ा दिये गये। पलटन उस समय होशियारपुर (पंजाब) में थी। पिता ने भाग कर अपना शरीर सतलज की वेगवती धारा को अर्पण कर दिया। एक या दो दिन वाद बेहोशी की हालत में, सैकड़ों कोस दूर आगे की तरफ, कहीं वे किनारे लग गये। होश आने पर सँभले और हरी मोटी घास के तिनके चूस-चूस कर कुछ शक्ति सम्पादन की। माँगते-खाते, साधुवेश में, कई महीने बाद वह घर आये। घर पर कुछ दिन रहकर, इधर-उधर भटकते हुए

वे बम्बई पहुँचे। वहाँ वल्लभ-सम्प्रदाय के एक गोस्वामीजी के यहाँ वे नौकर हो गये। इस तरह यहाँ भी उन्हें ठाकुरजी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे समर्थ होने तक वे इसी सम्प्रदाय के गोस्वामी की मुलाजिमत में रहे। फिर सदा के लिए उसे छोड़कर घर चले आये।

मेरे पितामह अलबत्ते संस्कृतज्ञ थे और अच्छे पंडित भी थे। बंगाल की छावनियों में स्थित पलटनों को वे पुराण सुनाया करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेच कर मेरी पितामही ने मेरे पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो-चार पुस्तकें मुझे भी घर में पड़ी मिलीं। मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाम मात्र तो हिन्दी क्या कैथी जानते थे। पर उनमें नये-नये किस्से बनाकर कहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली जिले में दीनशाह गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार भूपालसिंह के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे। मेरे नाना और मामा भी संस्कृतज्ञ थे। मामा की संस्कृतज्ञता का परिचय स्वयं मैंने, उनके पास बैठकर, प्राप्त किया था।

साहित्य-प्रेम

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे हुआ—पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्वजन्म के कृत कर्म से। बचपन से ही मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और वृजवासीदास के व्रजविलास पर गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कण्ठ कर लिये थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कवि-वचनसुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाज़िम थे, पिंगल का पाठ

पढ़ा। फिर क्या था! मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों का त्यों बना रहा। झाँसी आने पर जब मैंने पण्डितों की कृपा से, प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गयी और छन्दोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली; पर गद्य में कुछ न कुछ लिखना जारी रक्खा। संस्कृत और अँगरेजी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किये।

इंडियन प्रेस से परिचय

जब मैं झाँसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखायी। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमें बहुत-से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था प्रयाग का इंडियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इंडियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा। किसी ने लिखा—मैं

तुम्हारे साथ बैठकर संस्कृत पढ़ूँगा। किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिए एक छापाखाना खुलवा दूँगा——इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके सहायता-दान की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा— अव्यवस्थित-चित्त मनुष्य की सफलता में सदा सन्देह रहता है। क्यों न मैं अंगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ। प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव 'सब तजि हरि भज' की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इंडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा-बहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसीसे 'सम्पत्ति-शास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़ कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नयी पुस्तक न लिख सका।

मेरी रसीली पुस्तकें

उस समय तक मैंने जो कुछ लिखा था उससे मुझे टकों की प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हाँ, ग्रंथकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियाँ मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद ली थीं, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में बहुत कुछ इजाफा जरूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होंने कहा—अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों। रुपये का लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चकमें में आ गया। योरप और अमेरिका तक में प्रकाशित पुस्तकें मँगाकर पढ़ीं। संस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफे की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रक्खा—तरुणोपदेश।

मित्रों ने देखा। कहा, अच्छी तो है, पर इसमें सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम ही सुनकर और विज्ञापन-मात्र ही पढ़कर खरीदार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गन्दगी पर मक्खियों के झुंड के झुंड टूटते हैं। काम-कला लिखो, काम-कल्लोल लिखो, कंदर्प-दर्पण लिखो, रति-रहस्य लिखो, मनोजमंजरी लिखो, अनङ्ग-रंग लिखो। मैं सोच-विचार में पड़ गया। बहुत दिनों तक चित्त चलायमान रहा। अंत में जीत मेरे मित्रों की ही रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसन्द न आये। मैं उनसे भी बाँस भर आगे बढ़ गया। कवि तो मैं था ही, मैंने चार-चार चरणवाले लंबे-लंबे छन्दों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली—ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीस-चालीस साल पहले की बात कह रहा हूँ, आजकल की नहीं। आजकल तो नाम बाजारू हो रहा है और अपनें अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। अपने बूढ़े मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से, आपके सामने, उस नाम का उल्लेख करते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी; पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए, आप पंच, समाजरूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही होगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—सोहागरात। उसमें क्या है, वह आप पर प्रकट करने की जरूरत नहीं, क्योंकि—

"परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः।"

मेरे मित्रों ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसंद किया, उसे

बहुत सरस पाया, अतएव उन्होंने मेरी पीठ खूब ठोंकी। मैंने भी अपना परिश्रम सफल समझा। अब लगा मैं हवाई किले बनाने। पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूँगा, मेरे घर रुपयों की वृष्टि होने लगेगी। शीघ्र ही मैं मोटर नहीं, तो एक विक्टो-रिया खरीदकर उस पर हवा खाने निकला करूँगा। देहात छोड़कर दशाश्वमेध घाट पर कोई तिमंजिला मकान बनवाकर या मोल लेकर वहीं काशीवास करूँगा। कई कर्मचारी रखूँगा अन्यथा हजारों वैल्यू-पेविल कौन रवाना करेगा।

परंतु अभागियों के सुख-स्वप्न सच्चे नहीं निकलते। मेरे हवाई महल एक पल में ढह पड़े। मेरी पत्नी कुछ पढ़ी-लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनों पुस्तकें मैंने लिखी थीं। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देखा ही नहीं उलट-पलटकर उसने पढ़ा भी। फिर क्या था उसके शरीर में कराला काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कड़े कशाघात किये कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन दोनों पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या काले पानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गयीं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस दायमुलहब्स से हुआ। छूटने पर मैंने उन्हें एकान्त सेवन की आज्ञा दे दी है; क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें नहीं। इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पङ्क-पयोधि में डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो बड़ी कृपा हो। इसी से मैंने इस बहुत कुछ अप्रासङ्गिक विषय के उल्लेख की यहाँ जरूरत समझी।

सरस्वती के सम्पादन में मेरे आदर्श

'सरस्वती' के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए

कुछ आदर्श निश्चित किये। मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबंदी करूँगा, (२) मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूँगा, (३) अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख्याल रखूँगा और (४) न्याय पथ से कभी न विचलित हूँगा। इसका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, संक्षेप में सुन लीजिए:—(१) संपादक जी बीमार हो गये, इस कारण 'स्वर्ग-समाचार' दो हफ्ते बन्द रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गये, लाचार 'विश्व-मोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है। 'प्रलयंकरी' पत्रिका के विधाता का फौंटेनपेन टूट गया। उसके मातम में १३ दिन काम बन्द रहा। इसी से पत्रिका के प्रकटन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गयी। क्या किया जाता। 'त्रिलोकमित्र' का यह अंक; इसी से समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा—मैं इन बातों का कायल नहीं। प्रेस की मशीन टूट जाय उसका जिम्मेदार मैं नहीं। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया। चाहे पूरा का पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँ तक किया कि कम से कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ तो क्या हो ? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बंद रखना क्या ग्राहकों के साथ अन्याय करना न होगा। अस्तु, मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घकाल में एक बार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा तब भी मैंने नये सम्पादक को बहुत बचे हुए लेख अर्पण

किये। उस समय के उपार्जित और अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

(२) मालिकों का विश्वास-भाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आयी। 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफे अलबत्ता मुझे इलाहाबाद के 'डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट' के बँगले पर हाजिर होना पड़ा, पर मैं भूल से तलब किया गया था उसी के सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापनों की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया और मालिकों का मैं जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया वैसे ही वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया और मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी हो गयी जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवङ्गत बाबू चिन्तामणि घोष की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होंने मेरे सम्पादन स्वातंत्र्य में कभी बाधा नहीं डाली। वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते हैं।

(३) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ तक हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं, पर उस समय एकमात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओं की रानी, नहीं पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छापना या किसी के जीवन-चरित्र आदि का प्रकाशन कराना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिये जाते थे। कोई कहता, मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा।

कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई, अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जायगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश-महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हजम कर सकूँगा? नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' में वही मसाला जाने देता जिससे मैं पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी रुचि का सदैव ख्याल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन द्वारा लेखों की भाषा अधिक संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

(४) 'सरस्वती' में प्रकाशित मेरे लघु लेखों (नोटों) और आलोचनाओं ही से सर्वसाधारण जन इस बात का पता लगा सकते हैं कि मैंने कहाँ तक न्याय मार्ग का अवलम्बन किया है। जान-बूझकर मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया। न किसी के प्रसाद की प्राप्ति की आकांक्षा की, न किसी के कोप से विचलित ही हुआ। इस प्रान्त के कितने ही न्यायनिष्ठ सामाजिक सत्पुरुषों ने 'सरस्वती' का जो 'बॉयकाट' कर दिया था वह मेरे किस अपराध का सूचक था, इसका निर्णय सुधी-जन ही कर सकते हैं।

अध्ययन

द्विवेदीजी की यह संक्षिप्त व रोचक आत्म-कथा प्रायः उन सब गुणों से सम्पन्न है जो आत्म-कथा नामक साहित्यिक कृति को अत्यंत मूल्यवान् बनाते हैं। सत्यहृदयता, स्वाभाविकता और निष्कपट आत्मप्रकाशन आत्म-कथा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व हैं।

मुस्तहक = अधिकारी। शर सन्धान = वाण चलाना। सतत् = निरन्तर। विषण्ण = विषाद पूर्ण, खिन्न। उजरत = पारिश्रमिक। पितामही = पिता की माँ, दादी। पिंगल = छन्द रचना के नियमों का शास्त्र। इजाफा = वृद्धि, अधिकता। वेल्यू-पेविल = पदार्थ के प्राप्त होने पर जिसका मूल्य चुकाया जाय। कशाघात = चाबुक मारना। दायमुलहब्श = आजीवन कारावास। मरसिया = शोक के गीत जो शिया लोगों में विशेषतः गाये जाते हैं। प्रसाद = कृपा।

प्रश्न

१—आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की गद्य-शैली की विशेषताएँ बताइए।

२—द्विवेदी जी के उन चारित्रिक गुणों का बखान कीजिए जिनके कारण उनका व्यक्तित्व इतना उज्ज्वल और गंभीर है।

३—हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में द्विवेदीजी ने क्या योगदान किया, यह संक्षेप में बताइए।

मजदूरी और प्रेम

[अध्यापक पूर्णसिंह]

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफ़ेद दाने के रूप में निकलती हैं। गेंहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ-सा दिखायी देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केन्द्र है। उसका सरस जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते; ज्ञान-ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद-गिरजे, मंदिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है।

प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को प्रणाम करता है; और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेल कर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैलों और गउओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिंत्य और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि कोई इसको धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है। मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना-पिलाना, उसके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उसके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन-छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बेमुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिये हुए गउओं

का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखा और नंगा कलपनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह, क्या दिल्लगी है। हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सबके सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थी ही नहीं, ये तो ईश्वरी पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्नधन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका? परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है। पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरत-मिलाप का-सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कब तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है

तव ठहर जाती है। सुई हाथ में लिये हुए है, कमीज घुटने पर विछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरस कर अभी-अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं— मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है! शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करतीं। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफल आदि के विचित्र चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु साथ ही उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनायी हुई चीज में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ, उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में

बंद किये हुए अचार, मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं; उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन महा नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है; परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है! जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद् रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सफेद किरणों से अँधेरी रात पर सफेदी सी छिटकायी, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सफेद आटा बना लिया। इस सफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा; दूसरे हाथ में मक्खन की हाँडी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है, तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय, वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती चैतन्य और आनन्दमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती

है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुरायी हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नयी लालिमा से भी अधिक आनन्ददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य पूजा ही सच्ची ईश्वर पूजा है। मन्दिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मस्जिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के? सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के

अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम सब के सब प्रेम शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गयी है। विस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति-मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुवाँरेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशलपूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नयी कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनन्द के साथ खेत की मेंड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेद-भाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए, ये बेजान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर

चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी की यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नये कवि पैदा होंगे। तभी नये औलियों का उद्भव होगा; परन्तु ये सबके सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

अध्ययन

'मजदूरी और प्रेम' अध्यापक पूर्णसिंह के कतिपय निबन्धों में से एक है। इसकी शैली उनके अन्य निबन्धों की ही भाँति ओजपूर्ण और सरस है। लेखक ने श्रम के महत्त्व पर आज से इतने वर्ष पहले जब साम्यवादी विचारधारा अपने आधुनिक रूप में भारत में नहीं आयी थी, इतना क्रांतिकारी, तर्कयुक्त और हृदय को अपने रंग में रंग देनेवाला निबन्ध लिखा है कि उसकी मौलिकता का लोहा मानना पड़ता है। आज जब 'श्रमदान' अपने नवयुवकों के लिए हम अनिवार्य समझते हैं, इस लेख का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

नयनों की भाषा=वह भाषा जिसमें शब्दों की आवश्यकता न पड़े, नेत्र ही सब कुछ कह दें। **भोले भाव मिलें रघुराई**=भगवान निष्कपट प्रेम से मिलते हैं। **अवयव**=अंग। **मयस्सर**=प्राप्त। **राफल**=एक पाश्चात्य चित्रकार। **नास्तिकता**=ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न करना। **औलिए**=संसार से उदासीन साधु या परमहंस।

प्रश्न

१—अध्यापक पूर्णसिंह की भाषा और शैली की आलोचना कीजिए। क्या हिन्दी गद्य के किसी लेखक ने उनकी शैली के अनुरूप शैली अपनायी है?

२—वास्तविक सुख किस में है? तकिये-गद्दे पर आराम करने में अथवा परिश्रम करके पसीना बहाने में? सप्रमाण उत्तर दीजिए।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

[श्यामसुन्दर दास]

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण और आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोध तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखायी देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये गये हैं; पर सबका अवसान आनन्द में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है, जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ पाश्चात्य-प्रणाली के दुखांत नाटक इसीलिए नहीं देख पड़ते। यदि आज-

कल दो-चार नाटक ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और पाश्चात्य आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलम्बों की इतिश्री हो चुकी थी। फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

> "भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है,
> विनती सुनि सानन्द हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है।
> रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत-विजई है,
> समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥"

आनन्द की कितनी महान् भावना है! चित्त किसी अनुभूत आनन्द की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिन्दी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था; परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का भी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी कवियों में यद्यपि पाश्चात्य आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सम्भावना हो रही है, तथापि जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्त्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं, तब उनमें भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखायी पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति उस समय की है, जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरान्त

अस्थि-पञ्जरमात्र ही रहे होंगे; पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं; उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो उठती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनन्दस्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन होता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

२. भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है; अतः केवल अध्यात्म-पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचार-विचार तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेव-वाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक हो

गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव-साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गयीं, परन्तु उनमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गयी; परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित-सी हो गयी है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरल तथा सुन्दर साहित्य की सृष्टि हुई, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोष घुस जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं, एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की हुई हिन्दी की शृंगारी कविताओं के रूप में।

हिन्दी में साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं, तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली के कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को लेकर हमारे शृङ्गारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिए हितकर नहीं हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृङ्गारी कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्‌भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अव-हेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृङ्गारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, आगे चलकर, लौकिक शरीर-जन्य तथा वासना मूलक प्रेम में परिणत हो गया।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपयुक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश के जल-वायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जल-वायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उसके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा-जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इंगलैंड तथा आयरलैंड जैसे जलावृत द्वीप हैं

तो चीन जैसा विस्तृत भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से जो सम्बन्ध होता है, उसी को हम साहित्य की देशगत विशेषताएँ कहते हैं।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उस पर भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़-से लंबे-लंबे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, उल्टे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है। वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं; वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का

प्रकृति-वर्णन तथा तत्सम्भव सौन्दर्य-ज्ञान उच्च कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमण्डल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं! इनकी सृष्टि-संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता; अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उसमें भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचार-धारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखायी देता

है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संगठन अथवा छन्द-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से नहीं है, प्रत्युत् उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं। परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अँग्रेजी में इस विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं, परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यञ्जन होता है, केवल इस अभिव्यञ्जन के ढंग में अन्तर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं, दूसरी में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की कमी पायी जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा। साथ ही भारतीय संगीत-शास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत

तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर, मात्रिक अथवा लघु-मात्रिक आदि छन्द-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है; परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं। दूसरे इनका सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से उतना अधिक नहीं है, जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य में पायी जाती हैं।

अध्ययन

डॉ० श्यामसुन्दर दास हिन्दी के प्रारम्भिक निबन्ध-लेखकों में से हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह अत्यन्त गम्भीर, विवेचनात्मक तथा प्रामाणिक है। 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' आपके सुन्दर निबन्धों में से एक है। इसमें लेखक जिस अन्तर्दृष्टि से भारतीय साहित्य के प्राणों का परिचय हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है वह उसकी सहज गम्भीर तथा पैनी दृष्टि का परिचायक है।

आश्रम-चतुष्टय=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। **अन्यान्य कलाओं**=चित्रकला, स्थापत्य आदि। **विजातीय**=अन्य जाति वालों का। **अक्षुण्ण**=अटूट। **सारनाथ**=वाराणसी के पास एक स्थान जो बौद्ध भग्नावशेषों के लिए ख्यात है। **निहित**=छिपा हुआ। **अस्थि-पंजरमात्र**=हड्डियों का ढाँचा मात्र। **जिज्ञासा**=जानने की उत्सुकता। **प्रचुरता**=आधिक्य। **वैयक्तिक**=व्यक्तिगत। **एकेश्वरवाद**= 'ईश्वर एक है' इस सिद्धांत को माननेवाला दार्शनिक वाद। **ब्रह्मवाद**= ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करने का सिद्धांत अर्थात् यह मानना कि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है। **पुराणों के...बहुदेववाद**= भगवान् के अवतारों तथा बहुत-से देवताओं में विश्वास करने वाला सिद्धांत जो पुराणों में प्रतिपादित है। **अतिशयता**=प्रचुरता। **ऋचाओं**= ऋग्वेद के मन्त्रों। **परोक्ष भावों**=अलौकिक या अप्रत्यक्ष (संसार की

नहीं, प्रत्युत् अन्य लोक की) भावनाओं। पूत = पवित्र। ऐहिक = लौकिक, सांसारिक। कुण्ठित = मुरदार, जिसकी तीक्ष्णता समाप्त हो गयी हो। गुरुडम = आचार्यत्व (इसका प्रयोग अच्छे अर्थ में नहीं होता)। वस्तु-स्थिति = वास्तविकता। निसर्गसिद्ध = प्राकृतिक। वसन्तश्री = वसन्त की शोभा। तत्सम्भव = उससे उत्पन्न। अव्यक्त = अदृष्टिगोचर। उद्रेक = अभिव्यक्ति, जाग्रत करना। पिंगल = छन्दशास्त्र।

प्रश्न

१—डॉ० श्यामसुन्दर दास की गद्य-शैली की आलोचना कीजिए।

२—भारतीय साहित्य के मूल तत्वों का चित्रण कीजिए तथा उनकी विशेपताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्साह

[रामचन्द्र शुक्ल]

दुख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनन्द-वर्ग में वही स्थान उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आने वाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनन्द उत्साह के अंतर्गत माना जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किये हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध-वीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवाह नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न, दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं, केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए

भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी कर सकते हैं जब साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थत्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्निहित रहती है। दान-वीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखायी देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जायगी; पर इस अर्थत्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिह्न न दिखायी पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कार्य

हैं। इनमें जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निंदा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत-से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसीलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायेंगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सम्मान न रह जायगा। उनके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निंदा-स्तुति की कुछ भी परवाह न करके, किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निंदा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ भी परवाह न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनका कोई मतलब नहीं; उसकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाह-वाही से उत्पन्न आनन्द की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या

अपमान की कुछ परवाह नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस—भाव की दृष्टि से—कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निंदा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज-सुधार के वर्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाये जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दया-वान् भी वहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लंपटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के वड़े लंबे-चौड़े दास्तान हरदम सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तान्त का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने ही की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाये जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होती है। वही उत्साह, जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखायी पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्म-रक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौंदर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही

है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़े बहुत आराम, विश्राम, सुबीते इत्यादि का त्याग सब में करना ही पड़ता है; और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखायी पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा नहीं प्राप्त होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों आनन्दित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबन्ध में प्रसन्नमुख इधर-उधर आते-जाते दिखायी देंगे। प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्म-वीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर— यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं—शस्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह

है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में ? हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्म-वीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। वे वाग्वीर आज-कल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाये हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाये जाते हैं, और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर; हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-श्रृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनन्द की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनन्दमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलंबन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्द्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर, और धर्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दया-वश,

श्रद्धा-वश या कीर्ति-लोभ-वश दिया जाता है। यदि श्रद्धा-वश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दया-वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलम्बन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है, उत्साही का साहसपूर्ण आनन्द उसी की ओर उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलम्बन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीर-रस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है, जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखायी जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह-नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान् उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं—समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है—वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्द-पूर्ण तत्परता दिखायी पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखायी पड़ता है—

१. कर्म-भावना से उत्पन्न,
२. फल-भावना से उत्पन्न और
३. आगन्तुक, अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में

उतरता है उसी समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसीसे कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनन्द की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है; पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मंद पड़ती है—उसी की आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब-तब आनंद की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना प्रधान उत्साह बराबर एक रस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखायी पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-श्रृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद

की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखायी देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचानेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा, तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छामात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्दशून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए, एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गयी हुई सीढ़ियाँ दिखायी दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही यह उस स्वर्ण राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गये तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखायी देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनंद मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्ण-राशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति काल के अंतर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव

के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हार कर बैठ जाय या लड़खड़ा कर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गर्मी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य ही काफी है। जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंद-पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जितना जीवन बीता वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे पछतावा न रहा कि मैंने यत्न नहीं किया। फल पहले से ही कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न

क्रम के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्वरूप से निश्चित की हुई व्यापार परंपरा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोच कर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनन्द अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है, जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता

और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किये जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर उत्साह के रूप में दिखायी पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं अन्य मनोविकारों में भी बराबर पायी जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही सूचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नता-पूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी

बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

अध्ययन

प्रस्तुत लेख में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'उत्साह' नामक मनोभाव की विस्तृत व सूक्ष्म विवेचना की है। उत्साह जिसके मन में होता है और जिसके प्रति होता है—इन दोनों ही पक्षों को ध्यान में रखकर विद्वान् लेखक ने 'उत्साह' की सर्वांगपूर्ण विवेचना की है। भय, उत्साह, धीरता, साहस आदि परस्पर सम्बद्ध भावों का भी बहुत स्पष्टता के साथ पृथक्करण हुआ है। सटीक उदाहरणों की सहायता से सूक्ष्म तथ्यों को भली भाँति समझाया गया है। स्थान-स्थान पर उर्दू की पदावली ने शैली को व्यावहारिक भी बना दिया है। आचार्यजी ने मनोभावों को लेकर जितने भी निबन्ध लिखे हैं उन सब में यह निबन्ध सबसे अधिक सरल कहा जा सकता है।

तुषारमंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों = बर्फ से ढके, आकाश को छूनेवाले, घने जंगलों से भरे पहाड़ों। **अनुसरण** = पालन। **विरुद** = प्रशंसा। **उच्चाशय** = ऊँचे आशयवाले। **परपीड़न** = दूसरों को सताना। **वाग्वीर** = केवल वाणी के बहादुर। **विजेतव्य** = विजय की वस्तु या लक्ष्य। **विजय-विधायक** = विजय का विधान करने वाला। **उन्मुख** = उस ओर मुख किये हुए। **यौगिक** = मिला-जुला। **कर्मप्रवर्तक** = कर्म में लगानेवाले। **स्फुरण** = उत्पत्ति। **लाघव** = संक्षेप। **उपचार** = इलाज। **उन्मेष** = जगना, पैदा होना। **व्याघात** = विघ्न। **विपरीत** = उलटा।

प्रश्न

१—आचाय पंडित रामचन्द्र शुक्ल की गद्य-शैली की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

२—भय, उत्साह, धीरता और साहस—इन चारों मनोभावों का सूक्ष्म भेद निरूपित करते हुए वीर रस के भेदों (दयावीर, दानवीर, युद्धवीर) का पारस्परिक सम्बन्ध बताइए।

३—पं० रामचन्द्र शुक्ल और बा० श्यामसुन्दर दास की गद्य-शैलियों की तुलना कीजिए।

भू-दान-यज्ञ

[*विनोबा भावे*]

आज का दिन एक पवित्र दिन है। वैसे तो भगवान् के दिये हुए सारे दिन पवित्र ही होते हैं। और खास करके वे दिन अत्यन्त पवित्र होते हैं जब मनुष्य को कोई अच्छा संकल्प, अच्छा विचार सूझता है, अच्छा काम उससे होता है। लेकिन अलावा इसके समाज-जीवन में और भी कुछ ऐसे दिन होते हैं जब कि मनुष्य की सद्भावना जाग्रत हो उठती है। ऐसे ही दिनों में से आज का दिन है।

परमेश्वर ने सुझायी

मेरी यह यात्रा परमेश्वर ने मुझे सुझायी है, ऐसा ही मुझे मानना पड़ता है। छः माह पहले मुझे खुद को ऐसा कोई खयाल नहीं था कि जिस काम के लिए आज मैं गाँव-गाँव, द्वार-द्वार घूम रहा हूँ, वह कार्य मुझे करना होगा। उसमें मुझे परमेश्वर निमित्त बनायेगा। लेकिन परमेश्वर की कुछ ऐसी योजना थी, जिससे यह काम मुझे सहज ही स्फुरित हुआ और उसके अनुसार कार्य भी होने लगा। होते-होते उसे ऐसा रूप मिल गया, जिससे लोगों की नजरों में भी यह बात आ गयी कि यह एक शक्तिशाली कार्य-क्रम है, जो हमारे देश के लिए ही नहीं, बल्कि आज के काल के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यह एक युग पुरुष की माँग है। जिस तरह की भावना लोगों के दिलों में आ गयी उसका प्रतिबिम्ब मेरे हृदय में भी उठा। नतीजा यह हुआ कि तेलंगाना की यात्रा समाप्त करने के वाद बारिश के दिन वर्धा में बिताने के वास्ते मैं परमधाम आ बैठा और दो-

ढाई महीने वहाँ रहकर फिर से निकल पड़ा हूँ और घूमते-घूमते आपके इस गाँव में आ पहुँचा हूँ।

आज महात्मा गाँधी के जन्म का दिवस है। हम रोज सूत कातते हैं। आज भी यहाँ पर समुदाय के साथ सूत-कताई हुई। चन्द लोग उसमें सम्मिलित थे। तादाद उनकी बहुत कम थी। फिर भी आज की सूत-कताई में मुझे एक विशेष हस्ती की अनुभूति हुई और अभी जो मैं बोल रहा हूँ वह उसकी हाजिरी में बोल रहा हूँ।

हवा तैयार करने का काम

जो काम मैंने उठाया है, वह तो गरीब लोगों की भक्ति का काम है, श्रीमान् लोगों की भक्ति का काम है। सब लोगों की भक्ति उसमें हो जाती है। मेरा अपना विश्वास है कि यह कार्य सब लोगों के दिल में जँचने वाला है। मैं जमीन माँगता फिरता हूँ। किसी रोज कम मिलती है, तो मुझे यह नहीं लगता कि जमीन कम मिली। मुझे यही लगता है कि जो भी मुझे मिलता है, केवल प्रसाद-रूप है। आगे तो भगवान् खुद अपने हाथों से भर-भर कर देनेवाला है। और वह जब अनन्त हाथों से देने लगेगा तब मेरे यह दो हाथ निकम्मे और अपूर्ण साबित होंगे। आज तो केवल एक हवा तैयार करने का काम हो रहा है। परमेश्वर का बल इस काम के पीछे है, ऐसा प्रतिक्षण मैं महसूस कर रहा हूँ।

एक प्रार्थना

आज के पवित्र दिन मैं उससे पहले यह प्रार्थना करता हूँ कि जमीन तो लोग मुझे दें न दें, जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा होने दे, लेकिन मेरी तुझसे इतनी ही माँग है कि मैं तेरा दास हूँ, मेरी हस्ती मिटा, मेरा नाम मिटा। तेरा ही नाम दुनिया में चले,

तेरा नाम ही रहे । और जो भी राग-द्वेष आदि विकार मेरे मन में रहे हों, उन सब में से तू इस बालक को मुक्त करना । इसके सिवा अगर मैं और कोई भी चाह अपने मन में रखता हूँ तो तेरी कसम । मैं तुलसीदास की भाषा में बोल रहा हूँ । लेकिन वह मेरी आत्मा बोल रही है:—

"चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि विपुल बड़ाई ।"

मुझे और किसी चीज की जरूरत नहीं, तेरे चरणों में स्नेह वढ़े, प्रेम वढ़े ।

लोग पूछते हैं कि आप दिल्ली कब पहुँचेंगे ? मैं कहता हूँ– "मुझे मालूम नहीं, सब उसकी मर्जी पर निर्भर है ।" मेरी कुछ उम्र भी हो चुकी है । शरीर भी कुछ थक गया है । लेकिन अंतर में यही वृत्ति रहती है, और नित उसी का अनुभव करता हूँ । जरा ५ मिनट भी विश्राम मिलता है, थोड़ा भी एकांत मिलता है तो मन में यह वासना उठती है कि मेरा सारा अहंकार खत्म हो जाय । इसके सिवा कुछ भी विचार मन में नहीं आता । आज परश्मेवर के साथ मैं क्या भाषा बोल रहा हूँ ? मनुष्य की वाणी से क्या बयान कर रहा हूँ ? मैं बोल रहा हूँ कि आज ईश्वर के साथ बापू की हस्ती का अनुभव मैं कर रहा हूँ । मुझ पर उनके निरंतर आशीर्वाद रहे हैं । मैं तो स्वभाव से एक जंगली जानवर रहा हूँ । न मुझे सभ्यता मालूम है । मैं तो बड़े-बड़े लोगों के सम्पर्क से भी डरता हूँ । लेकिन आजकल निश्शंक हर किसी के घर में चला जाता हूँ । नारद-मुनि देवों में, राक्षसों में, मानवों में, सब में चले जाते थे, उनका कहीं भी अप्रवेश नहीं था । वही हालत मेरी है । यह सब बापू के आशीर्वाद का चमत्कार है । मेरा विश्वास है कि मेरे इस काम में दुनिया के जिस गोशे में वह बैठे होंगे उनके हृदय का समाधान होता होगा ।

मार्ग में तारण मिले, सन्त राम दोई,
सन्त सदा सीस ऊपर, राम हृदय होई।

मीराबाई का यह वचन मुझ पर भी ठीक लागू होता है, मुझे भी बाग में दो तारण मिले। भगवान् की कृपा से एक का आशीर्वाद मेरे सिर पर रहा है। दूसरे का स्थान मेरे हृदय में रहा है।

सिर्फ उसकी प्रेरणा से

आज मैं कुछ बोल रहा हूँ, लेकिन मुश्किल से बोल सकने वाला हूँ। कोशिश तो मैं यह करूँगा कि जो कहूँ अच्छी तरह कह सकूँ। मुझे बहुत दफा लगता है कि मैं घूमने के साथ-साथ कुछ बोल भी लेता हूँ। लेकिन इससे क्या परिणाम आता होगा? कल की ही बात है। एक गाँव में, जहाँ हम ठहरे थे, सारा दिन जहाँ बिताया, जहाँ मेरा एक व्याख्यान भी हुआ, वहाँ उस व्याख्यान के परिणाम-स्वरूप या कैसे भी कहिए, चार एकड़ जमीन मुझे मिली। फिर व्याख्यान समाप्त करके मैं अपनी जगह गया और उपनिषद् का चिन्तन शुरू किया। आजकल मेरे पास उपनिषद् रखे हैं।

दस मिनट हुए कि एक भाई आये, जो न मेरी प्रार्थना में शामिल थे, न मेरा व्याख्यान सुन पाये थे। कहने लगे, "जमीन देने आया हूँ।" ये भाई छः मील दूरी से आये थे। अपनी छः एकड़ जमीन में से एक एकड़ मुझे दे गये। मैंने सोचा, "किसकी प्रेरणा से यह हो रहा है? जहाँ मैं दिन भर रहा, जहाँ मैंने व्याख्यान सुनाया, वहाँ ४ एकड़ और जहाँ मेरा व्याख्यान नहीं हुआ वहाँ से एक गरीब आता है और छः में से एक एकड़ दे जाता है।" यह हुआ न हुआ कि एक दूसरे भाई जो दूरी से आये थे, बावन एकड़ देकर चले गये। मैं सोचने लगा कि लोगों के दिलों पर किस चीज का असर होता है? आदमी को शब्दों

की जरूरत क्यों पड़नी चाहिए ? अगर केवल जीवन शुद्ध हो जाय तो एक शब्द भी बोलना न पड़े और संकल्प मात्र से केवल घर बैठे काम हो जाय। लेकिन वैसा शुद्ध जीवन परमेश्वर जब देगा तब होगा, आज तो वह मुझे घुमा रहा है, माँगने की प्रेरणा दे रहा है, इसलिए मैं बोलता हूँ और माँगता हूँ। लेकिन मेरे मन में यह संदेह नहीं है कि मेरे माँगने से कुछ होने वाला ही है। जो न होने वाला है या हो रहा है, सब उसी की प्रेरणा से हो रहा है।

मध्य-प्रदेश और मैं

मैंने शुरू ही में कहा कि महाकोशल का यह आखिरी बड़ा मुकाम है; परन्तु अगर दिल्ली से वापस आना हुआ तो महाकोशल में से ही गुजरना पड़ेगा। यहाँ के लोगों से मिलने का फिर और एक अवसर मुझे प्राप्त होगा। मैं इस मध्य-प्रदेश से बहुत कुछ आशा रखता हूँ, इस वास्ते कि मैं ३० साल से इस मध्य-प्रदेश में ही रहता आया हूँ। अपने जीवन की जवानी का समय मैंने मध्य-प्रदेश के लोगों की सेवा में बिताया। यहाँ के लोगों ने देखा कि कई राष्ट्रीय आंदोलन आये और गये, कई चुनाव आये और गये। लेकिन यह शख्स अपने काम में निरन्तर रत रहा। उसने न इधर देखा न उधर। इस तरह मेरे जीवन की बहुत-सी तपस्या, इस मध्य-प्रदेश में हुई। अलावा इसके इस मध्य-प्रदेश के जेल में ४ साल रहने का मौका मुझे मिला। वहाँ एक दूसरे के निकट-संपर्क में आना हुआ। जेल में जो रहते हैं वे एक दूसरे को अच्छी तरह परख लेते हैं। वहाँ २४ घंटे परस्पर संबंध रहता है। तो इस तरह आपके उत्तमोत्तम लोगों के सम्पर्क में मैं आया। उन लोगों ने मेरा जीवन देखा। अगर मैंने कुछ किया तो सब पर प्रेम ही किया और कुछ नहीं किया। वहाँ कितने ही विचार के लोग थे, अलग-अलग पक्ष के भी थे,

परन्तु मैंने तो मनुष्य को मनुष्य के नाते पहचाना। इस तरह मेरा सारा जीवन इन लोगों ने बरसों तक देखा। मेरा कोई गुण-दोष उनसे छिपा नहीं रहा। जिनके साथ मैंने अपनी उम्र के ४ बरस विताये, उनके सामने कोई गुण-दोष छिपकर नहीं रह सकता था। मैंने देखा कि ऐसा एक भी भाई नहीं, जिसका प्रेम मुझे नहीं मिला। इसलिए मैं आप सबसे बहुत आशा रखता हूँ।

मैं चाहता क्या हूँ? मेरे एक भाई ने लिखा है कि आपके लिए हजार रुपये जमा हुए हैं और सौ आदमियों के भोजन का प्रबंध भी किया गया है। लेकिन यहाँ जो कुछ हुआ है और हो रहा है, एक परिषद् के लिए हो रहा है। मेरे स्वागत के लिए इतने पैसे कि जरूरत नहीं। मेरा पेट बहुत छोटा है। उसके लिए इतने पैसे की आवश्यकता नहीं। मेरा काम किस तरह आगे बढ़ेगा, इस बारे में जो सेवक गण यहाँ आ गये हैं वे विचार-विमर्श करेंगे और अपनी-अपनी जगह जाकर काम भी करेंगे। इसीलिए यह परिषद् बुलायी है लेकिन यद्यपि मेरी भूख बहुत कम है, तथापि दरिद्रनारायण की भूख बहुत ज्यादा है। इसलिए जब मुझसे पूछते हैं कि आपका अंक क्या है, कितनी जमीन आपको चाहिए तो मैं जवाब देता हूँ "पाँच करोड़ एकड़।" जो जमीन जेरेकाश्त है उसी की मैं बात कर रहा हूँ। अगर परिवार में पाँच भाई हैं तो एक और छठवाँ मुझे मान लीजिए। चार हों तो पाँचवाँ। इस तरह कुल जेरेकाश्त जमीन का यह पाँचवाँ या छठा हिस्सा होता है।

भू-दान यज्ञ

यह जो काम हो रहा है वह सामान्य दान का काम नहीं है, बल्कि भू-दान का है। अगर हम किसी को एक रोज भी खाना खिलाते हैं तो बहुत पुण्य मिलता है। एक रोज के अन्न-दान

का अगर इतना मूल्य है तो एक एकड़ जमीन का जिससे एक आदमी की सारी जिंदगी बसर हो सकती है, कितना मूल्य होगा ? इसीलिए दरिद्रनारायण के वास्ते सारे लोगों से कुछ न कुछ मिलना चाहिए। इसी का नाम यज्ञ है। इसीलिए हर शख्स से मैं कहता हूँ कि भाई 'मुझे कुछ न कुछ दे दो।'

गाँधीजी के बाद सर्वोदय के सिद्धांत को मानने वाले हम कुछ लोगों ने एक समाज बनाया है, जिसमें कोई किसी से द्वेष नहीं करता। सब सबसे प्रेम भाव रखते हैं। कोई किसी का शोषण नहीं करता। मेरा विश्वास है कि जैसे ही हम शोषण-रहित समाज का निर्माण कर सकेंगे, हिन्दुस्तान के लोगों की प्रतिभा प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए हम सर्वोदयवालों ने निश्चय किया है कि समाज-रचना हम बदल देंगे। मेरा इसमें विश्वास है, नहीं तो मुझे इस तरह खुले दिल से जमीन माँगने की हिम्मत नहीं होती। मैं जानता हूँ कि जितनी मेरी योग्यता है उससे ज्यादा फल ईश्वर ने मुझे दिया है। मुझे जरा भी शिकायत नहीं कि मुझे फल कम मिला। इसलिए मेरा काम इतना ही है कि लोगों को मैं अपने विचार समझाऊँ।

अध्ययन

प्रस्तुत लेख में आचार्य विनोबा भावे ने भू-दान-यज्ञ से सम्बन्धित अपने विचार व्यक्त किये हैं। भावों की सत्यता और अभिव्यक्ति की ईमानदारी राष्ट्रपिता बापू की भाषण-शैली व लेखन-शैली का स्मरण दिलाती है।

स्फुरित हुआ=अचानक उपजा। **वृत्ति**=भाव, विचार। **गोशा**=कोना। **जेरेकाश्त**=जिस पर खेती हो रही है। **सर्वोदय**=जीवन का सर्वांगीण जागरण।

प्रश्न

१—'भू-दान-यज्ञ' किसे कहते हैं ? यज्ञ का वास्तविक अर्थ क्या है ? भू-दान-यज्ञ के संबंध में आचार्य विनोबा की विचारधारा समझाइए।

२—प्रस्तुत लेख को पढ़कर आचार्य विनोबा के जिन व्यक्तिगत अथवा चारित्रिक गुणों से आप प्रभावित हुए हों उनका वर्णन कीजिए।

नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार

[*गुलाबराय*]

नागरिक

नगर में रहनेवाले को नागरिक कहते हैं। नगर में रहने के कारण तथा नगर की शासन-व्यवस्था से लाभ उठाने के कारण नागरिक पर कुछ उत्तरदायित्व आ जाता है। यदि मनुष्य अकेला रहे तो सिवा पेट भर लेने के उसका कोई कर्त्तव्य न होगा अथवा वह अपना समय ईशभजन या प्रकृति के निरीक्षण में व्यतीत करेगा; परन्तु समाज में रहने के साथ उसका उत्तर-दायित्व बढ़ जाता है, क्योंकि उसका कर्त्तव्य केवल अपने ही प्रति न रहकर दूसरों के प्रति भी हो जाता है। जिस समाज में मनुष्य उत्पन्न हुआ है उसमें शान्ति और साम्य स्थापित रखना और उसकी उन्नति करना उसका परम कर्त्तव्य हो जाता है।

नागरिकता एक प्रकार से मानवता और सभ्यता का पर्याय वन गयी है। अच्छे नागरिक को अपने सभी सम्वन्धों में अच्छा मनुष्य बनना होगा; क्योंकि मनुष्य के पारिवारिक, व्यापारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि सम्बन्ध सामाजिक दृढ़ता और संगठन में सहायक होते हैं। इन सब सम्वन्धों के पार-स्परिक अवरोध के साथ निर्वाह में ही सच्ची नागरिकता है। लोकतंत्र राष्ट्र की सफलता के लिए भी जनता में नागरिकता के भावों का मान आवश्यक है।

मनुष्य की उत्पत्ति समाज से हुई है। समाज से भरण-पोषण, शिक्षा आदि प्राप्त कर वह पुष्ट हुआ है। समाज ही में उसकी आजीविका है। अतः समाज की उन्नति में बाधक होना घोर कृत-घ्नता ही नहीं वरन् आत्महत्या है। समाज की उन्नति के लिए

निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं। जो बातें सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं, उनका साधन करना और उनके सम्पादित होने में योग देना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

सफाई और स्वास्थ्य

शरीर-रक्षा को शास्त्रों में पहला धर्म-साधन बतलाया है—"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।" यदि शरीर ही नहीं तो धर्म कहाँ ? मनुष्य-शरीर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना गया है। यदि वह स्वस्थ नहीं है, तो सब साधन विफल हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है, तन्दुरुस्ती हजार न्यामत। मनुष्य को स्वयं स्वस्थ रहकर दूसरों के स्वस्थ रहने में सहायक होना चाहिए। यदि हमारे पड़ोसी स्वस्थ नहीं हैं और यदि हमारा जलवायु शुद्ध नहीं है, तो हमारे स्वास्थ्य को भी आघात पहुँचता है। हमारे विगड़ने से समाज विगड़ता है और समाज के बिगड़ने से हम विगड़ते हैं। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया-रूप से बिगाड़ का रोग बढ़ता रहता है और मनुष्य की हानि होती है, इसलिए मनुष्य सबसे पहले अपने आप स्वस्थ रहने का उद्योग करे।

स्वस्थ रहने के लिए अपने शरीर, अपने वस्त्र और अपने घर की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। अधिकतर रोग सफाई के अभाव से होते हैं। सफाई रखने से केवल शरीर ही स्वस्थ नहीं रहता, वरन् मन भी प्रसन्न रहता है और आत्मगौरव बढ़ता है। स्वयं अपने को स्वच्छ कर अपने मुहल्ले तथा सारे नगर को स्वच्छ और आलोकित रखने में सहायक होना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। मतदातागण म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों पर जोर डाल कर इस कार्य में सहायक हो सकते हैं। चुनाव के समय वे लोग व्यक्तिगत सम्बन्ध, आकर्षणों और प्रलोभनों को छोड़कर सच्चे कार्यकर्त्ताओं को ही अपना मत दें।

अस्पतालों के सुचारु-रूप से चलाने और गरीबों को यथावत् दवाई पहुँचाने में सहायक होना भी परम वांछनीय है।

शिक्षा

शिक्षा के लिए जितना लिखा जाय थोड़ा है। शिक्षा से मनुष्य मनुष्य बनता है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह इस बात को देखे कि उसके बालकों और नगर या मुहल्ले के अन्य बालक-बालिकाओं की ठीक-ठीक शिक्षा होती है या नहीं। यदि नहीं तो किस कारण? यदि पाठशालाओं में सुधार की आवश्यकता हो तो उस सुधार के लिए यत्न करें और यदि लोगों को शिक्षा में अरुचि हो तो उनको शिक्षा के लाभ बतलाने और बालकों के लिए शिक्षा सुलभ करवाने का प्रयत्न करें। शिक्षा का कार्य स्कूल और कालेज की शिक्षा में ही समाप्त नहीं हो जाता, वरन् वह जीवन-भर चलता है। जनता को नागरिकता की शिक्षा देना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। हाँ, यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार की शिक्षा देने में किसी प्रकार का दम्भ न आने पावे। शिक्षा सेवा-भाव से दी जाय।

सामाजिक संगठन और धार्मिक उदारता

सामाजिक उन्नति, सहकारिता और संगठन पर निर्भर है। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह स्वयं अपने सद्व्यवहार से लोगों में प्रेम का व्यवहार बढ़ावे, और दूसरों से घृणाभाव को कम करे। अपने किसी व्यवहार से वह दूसरों को अपमानित न करे; क्योंकि कोई अपमानित होकर समाज में नहीं रहना चाहता। नागरिक को चाहिए कि वह साम्प्रदायिकता और मत-भेद से उठने वाले झगड़ों को कम कर समाज को अंग-भंग होने से बचावे। स्वयं दूसरों के मत का आदर कर लोगों में

उदारता के भावों की उत्पत्ति करे। परस्पर उदारता और आदान-प्रदान से ही सामाजिक संगठन पुष्ट होता है।

आर्थिक उन्नति

जिस प्रकार व्यक्ति का धनहीन जीवन निरर्थक है, वैसे ही समाज का भी। जो नागरिक सम्यक् आजीविका द्वारा धनोपार्जन नहीं करता वह समाज का घातक है। नागरिक को चाहिए कि स्वयं बेकार न हो और दूसरे को बेकारी से बचावे, जो वेकार हों उनके लिए बेकारी दूर करने के साधन उपस्थित करे, नगर में उद्योग-धंधों की वृद्धि में सहायता दे और जो लोग विद्या या अनुभव के अभाव से अपना व्यवसाय या व्यापार नहीं वढ़ा सकते उनको अपनी विद्या और अनुभव से सहायता करे।

रक्षा और शान्ति

यद्यपि रक्षा और शान्ति पुलिस और मजिस्ट्रेटों का कार्य है तथापि उसमें नागरिकों का सहयोग आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह वास्तविक अपराधियों का पता लगाने में सहायता दे और इसी प्रकार वेगुनाहों को पुलिस के अत्याचार से बचाने का उद्योग करे। न्याय में व्यक्तिगत सम्बन्धों और प्रलोभनों को स्थान देना उचित नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह देश की रक्षा के लिए फौजी स्वयं-सेवकों अथवा सेवा-समितियों में काम करे; क्योंकि नगर की रक्षा देश की रक्षा पर आश्रित है। अच्छा नागरिक जो कुछ काम करे—चाहे मेम्बरी हो, चाहे आनरेरी मजिस्ट्रेटी हो और चाहे कलेक्टरी हो—सब सेवा-भाव से करे, केवल आत्मगौरव बढ़ाने के लिए नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह समाज को केवल चोर-डाकुओं से ही रक्षित न रखे, वरन् उन लोगों से भी रक्षित रखे जो सभ्यता के आवरण में लोगों को ठगते हों। उसको यह भी चाहिए कि

आपस के लड़ाई-झगड़ों के कारणों को उपस्थित न होने दे। यदि नगर में शान्ति भंग होती है तो आपस में लड़ते तो दुर्जन हैं और हानि सज्जनों की होती है। जो व्यक्ति लड़ाई के कारण उपस्थित होते हुए देखकर उपेक्षा-भाव से मौन रहता है, वह उस लड़ाई में सहायक होता है। हाँ, यह ध्यान रखना चाहिए कि विरोध के शमन के लिए भी ऐसे उपाय काम में न लाये जायँ, जिनसे विरोध बढ़े, वरन् शान्ति और प्रेम के साथ शान्ति स्थापित की जाय।

राजनीतिक उन्नति

राजनीति के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी और धैर्य की आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह नेता बने। जहाँ बहुत-से नेता होते हैं वहाँ विनाश के साधन उपस्थित हो जाते हैं। धैर्य, दृढ़ता और निश्चय के साथ किया हुआ कार्य सफल होता है। सत्य का अवलम्ब लेकर निर्भयता से कार्य करना चाहिए। जहाँ पर मताधिकार का प्रश्न हो, जहाँ उसकी राय ली जावे, वह स्वतंत्रतापूर्वक दे, उसमें किसी का पक्षपात न करे। धन और मान के प्रलोभनों से विचलित न हो और न बन्धुत्व, जाति और साम्प्रदायिकता का खयाल करे। मताधिकार का सदुपयोग ही लोकतंत्र राज्य की सफलता का मूल साधन है। राजनीतिक उन्नति के लिए वह इस बात का ध्यान रखे कि वह राजनीतिक व्यवस्था उत्तम है जिससे समाज में शांति और साम्य स्थापित रहे; सबको समान अधिकार रहे; कोई अपनी जाति या मत के कारण समाज के किसी लाभ से वंचित न रहे; सबको अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास और उनके उपयोग से न्यायानुकूल लाभ उठाने के लिए समान अवसर मिले, उचित कार्य करने में किसी की स्वतंत्रता में बाधा न

आवे; सबका—चाहे वह पदाधिकारी हो और चाहे साधारण पुरुष—मान और गौरव रहे, लोग भूखों न मरें, किसानों का भार हल्का हो, बेकारों की वेकारी कम हो, सम्पत्ति की रक्षा हो, धर्म के शान्तिपूर्वक आचरण में बाधा न पड़े, देशवासी देश की उन्नति के साधनों का स्वयं निर्णय कर सकें, और देश के सुचारु रूप से शासन का और उसकी रक्षा का स्वयं अपने ऊपर भार लेने की योग्यता प्राप्त कर सकें। जिस प्रकार देश में उपर्युक्त रीति की व्यवस्था स्थापित होने की दृढ़तापूर्वक माँग करना और उसकी माँग की पूर्ति में सहायक होना नागरिक का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार राज-व्यवस्था का मान करना, करों का देना और न्याय-पूर्ण शासन में राष्ट्र का सहायक बनना भी नागरिक-धर्म के अंतर्गत समझना चाहिए।

अधिकार

नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पूर्णतया पालन करता हुआ अपने शरीर, सम्पत्ति एवं वैयक्तिक, पारिवारिक तथा जातीय स्वाभिमान की रक्षा, भाषण की स्वतंत्रता, हर प्रकार की व्यापारिक सुविधा, अस्पताल, पुस्तकालय आदि सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना, नौकरियों में समानता का व्यवहार व राजकीय न्याय-विधान में अभेद-भाव आदि नागरिक अधिकारों के लिए झगड़ सकता है। अपने अधिकारों के लिए उदासीन रहना अपने प्रति अन्याय है। जो अपने को प्राप्य अधिकारों से वंचित रखता है वह अन्याय को प्रोत्साहन देता है और दूसरों के लिए बुरा उदाहरण उपस्थित करता है। अधिकारों के लिए जब झगड़ा हो तव वैयक्तिक लाभ की भावना से नहीं, वरन् सामाजिक लाभ को अपने सामने रखना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दूसरों से मनुष्योचित व्यवहार करते हुए

समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायता देना नागरिक का कर्त्तव्य है और अपने साथ मनुष्योचित व्यवहार की माँग उसका अधिकार है।

अध्ययन

सीधी-सादी आडम्बरहीन शैली में लिखे हुए इस निबन्ध में नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकारों का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। सिद्धांतों के गम्भीर विवेचन में न लगकर लेखक ने उदाहरणों द्वारा पाठक के सामने यह स्पष्ट कर दिया है कि अधिकारों की प्राप्ति उचित कर्त्तव्य-पालन पर ही निर्भर है।

लोकतन्त्र=प्रजातन्त्र। **शरीरमाद्यं.........साधनं**=शरीर निश्चय ही धर्म का साधन है। **वांछनीय**=उचित। **साम्प्रदायिकता**=जातिवाद का दुराग्रह। **शमन**=शान्ति। **अभेदभाव**=अन्तर न रखना।

प्रश्न

१—कर्त्तव्य और अधिकारों में किसका महत्त्व अधिक है?
२—नागरिक के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए एक निबन्ध लिखिए।

साबरमती आश्रम में महात्माजी

[*बनारसीदास चतुर्वेदी*]

सुना है, आल्प्स पर्वत श्रेणी का सर्वोत्तम दृश्य स्विटजरलैंड से ट्रियेथ नामक वन्दरगाह की ओर आते हुए दीख पड़ता है। वहाँ आल्प्स निकटस्थ होने के कारण अपने प्रचंड महत्त्व से दर्शक पर बड़ा भारी प्रभाव डालता है और हिमालय का दृश्य दूर से देखने में अपनी अनन्तता से विचित्रतापूर्ण और अत्यन्त रमणीक प्रतीत होता है।

महात्माजी में पर्वतश्रेष्ठ आल्प्स और नगाधिराज हिमालय दोनों ही के गुण विद्यमान थे। वे निकट से भी उतने ही मनोहर थे जितने दूर से।

इन पंक्तियों के लेखक को साबरमती-आश्रम में लगभग चार वर्ष तक रहने का सुअवसर मिला था। उस समय की मधुर स्मृतियों को एक छोटे लेख में नहीं लिखा जा सकता। महात्मा-जी ने खास तौर पर प्रवासी भारतीयों के लिए काम करने के उद्देश्य से मुझे शांति-निकेतन से बुलाकर बंबई रखा था और तत्पश्चात् गुजरात विद्यापीठ में हिन्दी पढ़ाने के लिए साबरमती बुला लिया था। यद्यपि उन दिनों असहयोग-आन्दोलन बहुत जोरों पर था, तथापि मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं था। महात्माजी पूर्ण स्वाधीनता देने में विश्वास रखते थे और आश्रम में रहते हुए भी मैं सरकार से प्रवासी भारतीयों के विषय पर निरंतर सहयोग करता रहा। महात्माजी का आदेश था—

"जैसा तुम्हारी अन्तरात्मा समझे, वही करो। इतना ख्याल रहे कि तुम्हें ईमानदारी के साथ प्रवासी भारतीयों की सेवा करनी है। रुपये का प्रवन्ध मैं कर दूंगा। कार्य की नीति तुम

स्वयं निश्चित करो और जब मुझसे सलाह लेनी जरूरी समझो, पूछ सकते हो।"

चूँकि प्रवासी भारतीयों का विषय ही ऐसा था कि उसमें सरकार से सहयोग करना जरूरी था, मैंने सहयोग की नीति से ही काम लिया था। इस प्रकार जिस स्वाधीनता का उपभोग मैं कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांतिनिकेतन में करता रहा था, वही मुझे महात्माजी के साबरमती आश्रम में प्राप्त हुई। यद्यपि तत्कालीन राजनीतिक विचार-धारा के विपरीत जाना मेरे जैसे अत्यन्त क्षुद्र कार्यकर्त्ता के लिए असम्भव था, पर महात्माजी का वरद हस्त निरन्तर सिर पर रहा और चित्त में कोई उद्विग्नता नहीं हुई।

जिस किसी को उन दिनों महात्माजी के आश्रम में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वह उस पुण्यसलिला साबरमती के तट और उसके तपस्वी को कैसे भूल सकता है? वह प्रातः-कालीन प्रार्थना का दृश्य अब भी आँखों के सामने घूम जाता है। ऊपर आकाश में सुन्दर तारागण, सामने शीतल मंदवाहिनी साबरमती, चारों ओर स्वच्छ वायु, सुनने के लिए गायनाचार्य शास्त्री खरे का मधुर स्वर और दर्शन के लिए संयम मूर्ति गांधीजी।

यद्यपि महात्माजी नित्य प्रति प्रार्थना के बाद कुछ न कुछ कहते थे और उनके प्रत्येक प्रवचन में दीर्घकालीन अनुभवों के कारण अनेक स्मरणीय बातें रहा करती थीं, तथापि उस समय उन प्रवचनों को विधिवत् लिपिबद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था।

२६ जनवरी, १९२२ को महात्माजी बारडोली जाने वाले थे, इसलिए उस दिन प्रवचन के और भी महत्त्वपूर्ण होने की संभावना थी। प्रार्थना के बाद महात्माजी ने गंभीर स्वर में कहा—

"आप लोगों से मैंने आपके अनुभव कल पूछे थे। उस समय आपने मेरे अनुभव भी जानने की इच्छा प्रकट की थी। मैं आपसे अभी कहूँगा सो पहले की अपेक्षा विषय-वासनाओं पर मैंने अधिक काबू कर लिया है। और मैं अपने दोषों को भी अच्छी तरह देखने लगा हूँ। उन दोषों को स्वीकार करने की शक्ति भी मुझमें आ गयी है।

"पूर्ण सत्य, पूर्ण अहिंसा और पूर्ण ब्रह्मचर्य तो सिद्धांत में ही पाया जा सकता है। लेकिन उसे हम अपना आदर्श बनाकर उसकी ओर बराबर आगे वढ़ सकते हैं। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अदर्शनीय वस्तु को देखना भी ब्रह्मचर्य को खंडित करना है, न सुनने योग्य वस्तु को सुनना भी ब्रह्मचर्य-स्खलन है और न खाने योग्य वस्तु को खाना भी वही है। पूर्ण ब्रह्मचारी कभी बीमार पड़ ही नहीं सकता। बीमार होना तो किसी पाप का परिणाम है। मुझे याद है कि एक बार जहाज पर बीमार होने पर मि० एंड्रूज ने मजाक में मुझे लिखा था—

"मैं बीमार हो गया हूँ। आपके सिद्धान्तानुसार तो मैंने कोई-न-कोई पाप किया होगा।"

मैंने उन्हें लिखा था कि जरूर, लेकिन यहाँ आपको पाप की व्याख्या व्यापक रीति से करनी चाहिए।"

इस प्रकार एक घंटे तक महात्माजी बोलते रहे। प्रत्येक बात उनकी आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश से निकल रही थी और उस समय के शान्ति-पूर्ण वायुमण्डल में उनके शब्द विचित्र शक्ति के साथ धाराप्रवाह रूप में चले आ रहे थे। अन्त में उन्होंने कहा—

"कल मैं प्रोफेसर बसवानीजी की एक पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें एक दृष्टान्त आया है। जिस समय महाराणा प्रताप अपनी मृत्युशय्या पर लेटे हुए थे, उस समय उनका चेहरा बड़ा रंजीदा

और चिन्तापूर्ण था " उनके सरदारों ने उनसे पूछा—"महाराज, आपको क्या चिन्ता है ?"

"महाराणा ने कहा—"मुझे चिन्ता यही है कि आप लोग मेरे पीछे कहीं ऐश-आराम में न पड़ जायँ और अपनी स्वाधीनता को न खो बैठें !" राजपूतों ने महाराणा प्रताप को विश्वास दिलाया कि नहीं, हम लोग भोग-विलास में नहीं पड़ेंगे। जब महाराणा को यह आश्वासन मिला, तब वह शान्त हुए और उनके मुख पर वही प्रसन्नता और तेज झलकने लगा। महाराणा की मृत्यु के बाद राजपूत लोग अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं रह सके। कोई परलोक की बात नहीं जानता, पर यदि कोई जानता तो वह कह सकता था कि महाराणा प्रताप की आत्मा स्वर्ग में अवश्य पूर्ण आनन्द न पाती होगी।

"महाराणा प्रताप तो ऐसे वीर हो गये हैं कि संसार में उनके समान देश-भक्त बहुत कम हुए हैं; लेकिन उनके उद्देश्य से इस समय हम लोगों का उद्देश्य बड़ा है। वह एक राज्य की स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे, पर हम लोग तो सम्पूर्ण भारत-वर्ष की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं।

"मैं आज बारडोली जाऊँगा। पहले तो जब कभी मैं जाता था, महीने-डेढ़ महीने बाद लौट आता था; लेकिन इस बार मैं अपने काम को समाप्त किये बिना नहीं लौटना चाहता। वैसे तो कौन जानता है कि मुझे कब यहाँ लौटना पड़े; क्योंकि मालवीयजी अभी राउण्ड टेबिल कानफ्रेंस का प्रयत्न कर रहे हैं; परन्तु मेरी इच्छा यही है कि जिस काम को करने के लिए मैं बारडोली जा रहा हूँ, उसे खत्म करके ही लौटूँ। महादेव ने जेल से लिखा था कि 'जब ब्रिटिश सरकार ने जगलुल पाशा को मिस्र से देश निकाला दे दिया, तब सम्भव है कि भारत-सरकार आपको भी

देश निकाला दे दे।' मुझे तो विश्वास नहीं होता कि सरकार ऐसा करेगी; पर यदि ऐसा करे भी, अथवा मैं बारडोली में गोली से मारा जाऊँ, तो मुझे वहाँ पर अन्तिम समय में यह सन्तोष होना चाहिए कि आप लोग—आश्रम निवासी—अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं। एक छोटी-सी चीज से बढ़ाकर यह वना-वनाया आश्रम मैं आपको सौंपता हूँ। आप लोग संयमपूर्वक रहकर इसकी उन्नति करें—व्यक्तिगत उन्नति और सामुदायिक उन्नति।"

चूँकि मेरा गुजराती का ज्ञान वहुत साधारण सा था, इसीलिए मैं महात्मा जी के प्रवचन का सारांश ही ले सका। पर मैं इतना जानता हूँ कि वह प्रायः प्रामाणिक ही है।

जिस समय महात्माजी ने अपना प्रवचन समाप्त किया, उस समय प्रातःकाल के ५ वजे होंगे। चारों ओर बिल्कुल सन्नाटा था। मानों साबरमती का जल मंद-गति से बहते हुए धीरे-धीरे 'संयम-संयम' कह रहा था; चिड़ियों की चहचहाहट भी मानों 'संयम' के उपदेश से परिपूर्ण थी और उस स्तब्ध वातावरण में भी वही शब्द 'संयम' गूँज रहा था।

कल्पना कीजिए कि यदि दिल्ली में शहीद होने के पहले महात्माजी का कोई प्रवचन हुआ होता! तो क्या वे यही शब्द न कहते—

"यह स्वाधीनता मैं आपको सौंपता हूँ। आप लोग संयमपूर्वक रहकर इसकी उन्नति करें—व्यक्तिगत उन्नतिं और सामुदायिक उन्नति।"

एक दिन घूमते-घूमते मैं महात्माजी के कमरे की ओर निकल गया। यद्यपि विवादग्रस्त राजनीति से मेरा कोई वास्ता नहीं था, तथापि कभी-कभी अपने मन की आशंका को दूर

करने के लिए मैं महात्माजी से एक-आध राजनीतिक प्रश्न भी पूछ बैठता था। एक बार मैंने कहा—"महात्माजी, आप यह कैसे आशा करते हैं कि अकेले बारडोली में संग्राम करके आप समस्त देश को स्वतंत्र कर देंगे?"

महात्माजी ने उत्तर दिया—

"हम लोग सीली हुई दियासलाई की तरह हैं। यदि एक प्रज्ज्वलित हुई तो सबसे आग जलाई जा सकती है।"

इस उत्तर से मैं अवाक् सा रह गया।

पर महात्माजी सदा गंभीर ही नहीं रहा करते थे। वे मजाक भी खूब करते थे।

किसी आश्रमवासी के सिर में बड़ा दर्द होता था। प्रार्थना के बाद गांधीजी ने पूछा—"अब तबियत कैसी है?" उन्होंने उत्तर दिया—"अब तो कुछ-कुछ ठीक है?" महात्माजी ने पूछा—"खाने के लिए वैद्य ने क्या बताया था?" उन्होंने कहा—"बादाम।"

महात्माजी ने हँस कर कहा—"बादाम, तब तो ठीक! बादाम का क्या कहना!"

मेरे पास एक बड़ी मजबूत हाकी स्टिक थी। एक दिन उसे हाथ में लिये घूम रहा था कि महात्माजी मिल गये। बड़े ध्यान से उसकी ओर देख कर और मुस्करा कर बोले—

"हाँ, लाठी तो आपने बड़ी मजबूत रखी है।" मैंने कहा—"इसका नाम माखनलालजी चतुर्वेदी ने "मस्तक-भंजन" रखा है।"

महात्माजी खूब हँसे और बोले—

"सचमुच यह मस्तक-भंजन ही है; और सत्याग्रह आश्रम में तो 'मस्तक-भंजन' रखना ही चाहिए।"

उन दिनों दीनबन्धु मि० एंड्रूयूज और प्रवासी भारतीयों के पुराने कार्यकर्त्ता मि० पोलक, साबरमती में ही विद्यमान थे। ऐसे अवसर से लाभ उठाने के लिए मैंने महात्माजी से निवेदन किया—"आज प्रातःकालीन वायुसेवन का समय मुझे दीजिए। आप, मि० एंड्रूयूज और मि० पोलक, ये तीनों प्रवासी भारतीयों के प्रश्नों के आचार्य हैं। ऐसा मौका फिर कव मिल सकता है। प्रवासी भारतीयों के वारे में मुझे कुछ सवाल पूछने भी हैं।" महात्माजी राजी हो गये और उस दिन टहलते समय प्रवासी भारतीयों के विषय पर ही वार्त्तालाप हुआ। दुर्भाग्यवश उस वार्त्तालाप के नोट मैंने रखे नहीं और अब वह स्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका है। केवल एक बात मुझे याद है, वह यह कि मैंने प्रस्ताव किया था कि पूर्वी अफ्रीका के 'नीग्रो' लोगों की सेवा के लिए कांग्रेस की ओर से एक मिशन जाना चाहिए। मि० पोलक ने इस प्रस्ताव का विरोध किया था। उनका कहना था कि यह काम तो आर्य-समाज जैसी धार्मिक संस्था को अपने ऊपर लेना चाहिए। यह कांग्रेस जैसी राजनीतिक संस्था का कर्त्तव्य नहीं है। प्रवासी भारतीयों के लिए एक विशेष पत्र निकालने की भी चर्चा शायद हुई थी। उस पर महात्माजी ने कहा था—"मौजूदा पत्रों में से ही किसी का प्रवासी विशेषांक निकाल सकते हो। अलग अखबार चल नहीं सकेगा।"

महात्माजी मेरी प्रचारक-प्रवृत्ति से भली-भाँति परिचित थे। एक वार जब मैंने कई लेख पत्रों को भेज डाले और परामर्शों के लिए बार-बार उन्हें तंग किया तो महात्माजी हँसकर बोले—"लड़वैया का यही काम थोड़े ही है कि बराबर गोली चलाता रहे। कभी-कभी उसे गोला-बारूद का संग्रह भी तो करना चाहिए।" उनका अभिप्राय यही था कि भिन्न-भिन्न

प्रदेशों के प्रवासी भाइयों की दशा के विषय में पूरा-पूरा रेकार्ड तैयार करना चाहिए।

इस समय आश्रम जीवन की न जाने कितनी बातें याद आ रही हैं; पर इस छोटे से लेख में उनके लिए स्थान नहीं है।

अध्ययन

बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपनी सरल सुन्दर शैली में गाँधीजी का संस्मरण लिखा है। इसमें गाँधीजी के व्यक्तित्व का बहुत ही सजीव चित्रण हुआ है। लेख की शैली शब्दाडम्बर रहित तथा सीधी-सादी है। इससे साबरमती के आश्रम के जीवन और महात्माजी के महान् व्यक्तित्व का सुन्दर परिचय मिलता है। लेखक अपने इस कार्य के लिए बड़ी राजनीतिक घटनाओं को नहीं चुनता, दैनिक जीवन की साधारण घटनाएँ ही लेता है। भाषा और शैली की यह सादगी उच्च विचारों को हमारे सामने बड़ी सफलता से प्रस्तुत कर सकी है।

आल्प्स=योरप का सबसे ऊँचा पर्वत, यह योरप के मध्य में आरपार फैला हुआ है। **नगाधिराज**=पहाड़ों का राजा। **प्रवासी**= जो देश के बाहर हैं। **क्षुद्र**=छोटा। **मंदवाहिनी**=धीरे-धीरे बहनेवाली। **स्खलन**=पतन। **एंड्रयूज**= (सी० एफ० एंड्रयूज) अंग्रेज थे, जो बहुत दिनों तक शांति-निकेतन में अध्ययन करते रहे। भारतीयों के प्रति उनकी बहुत सहानुभूति थी, वे दीन-बन्धु एंड्रयूज कहे जाते थे। **प्रदेश**=स्थान, कोना। **मालवीयजी**=पं० मदनमोहन मालवीय। **महादेव**=महादेव देसाई, जो गांधीजी के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। **अवाक्**=भौचक्का। **माखनलाल चतुर्वेदी**=इस युग के प्रसिद्ध संपादक, कवि तथा लेखक। **मस्तक-भंजन**=सिर तोड़नेवाला।

प्रश्न

१—लेखक ने गाँधीजी की किससे तुलना की है और वह कहाँ तक उपयुक्त है?

२—सी० एफ० एंड्रयूज, महादेव देसाई, बारडोली और शान्ति-निकेतन के विषय में आप क्या जानते हैं?

भाव-रत्न

[राय कृष्णदास]

केवल तुम्हीं !

जब तुम मेरे पास आये, तब मैं तुम्हारे लिए बिलकुल तैयार न था, पर तुमने उस पर ध्यान नहीं दिया और मेरे पास बैठ गये।

मैं अपने झंझटों में फँसा था, सो मैंने तुम्हारी ओर देखा भी नहीं; किन्तु तुम मुझे जिस उपकरण की आवश्यकता होती, देते जाते।

मैं अपनी धुन में मस्त था।

संध्या के समय शारीरिक श्रांति के कारण—कुछ मानसिक शांति से नहीं—मैं कामों से विरत हुआ।

कितने ही अन्तरंग मित्रों को मैंने बिठा रखा था। काम से विमुख होने पर उनसे वार्त्तालाप करने को कहा था। सोचा था कि जी बहलेगा। पर देखा कि वे सब के सब चल दिये। उनमें इतना धैर्य्य कहाँ ? ठहरे एक तुम्हीं।

धन्य !

मैं गद्-गद् होकर तुम्हारे चरणों में लोटने लगता हूँ और अपनी चिन्ताओं को चिरकाल के लिए भूल जाता हूँ।

क्रीड़ास्थल—

जानते हो, नींद के खेलने का स्थान कहाँ है ? बच्चों की उन खिलवाड़ी आँखों में, जो समदर्शी हैं जिनमें अलौकिक प्रेम भरा है; जो समग्र विश्व को स्वर्गीय दृष्टि से देखती हैं और जिनसे आनन्दमय मुस्कराहट की किरणें सदा फुरा करती हैं।

जानते हो, पवन ने अपने खेलने के लिए कौन स्थान चुना

है ? उन उपवनों में, जहाँ उसके पहुँचते ही हर एक कली खिल उठे और उसे अपने आमोद से भर दे; जहाँ वह मधुपान से झूमता हुआ और लताओं के अटपटे जालों में अटकता हुआ एवं उनसे पुष्पाञ्जलियाँ पाता हुआ चल सके; जहाँ भ्रमरावली उसके आगमन से चञ्चल होकर उसका गुणगान करने लगे और जहाँ कमल-रजोरञ्जित सरोवर के कण उड़-उड़ कर उसे शीतल एवं अनुरक्त करें।

जानते हो, चन्द्र ने अपने खेलने का कौन स्थान बनाया है? उस निखरे नीलाकाश में, जिसमें से उसका सौन्दर्य फटा पड़ता है; जहाँ वह जगमगाती तारिकाओं की प्रभा मंद करता है; जहाँ तक पहुँचने का उद्योग चकोर बार-बार करता है पर न पहुँचकर आशा के सुख से जीवन धारण किये रहता है और जहाँ से वह संसारमात्र पर अमृत बरसाता है।

नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रखा है। जहाँ वे एक चट्टान से कूदकर दूसरी पर जाती हैं; जहाँ वे ढोकों के संग खेलकूद मचाती हैं और छीटें उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं ! जहाँ वे अपनी ओर झुकी लतालियों का हाथ पकड़ कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं; जहाँ उनके बाल-संघाती क्षुप उन्हें अपनी अंकुरां-गुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक-सा उचक कर तथा वङ्क होकर बढ़ जाती हैं। जहाँ वे लड़कपन के भोले-भाले मन-माने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूदकर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनती हैं।

और जानते हो, मेरे मानस ने अपने खेलने का स्थान कहाँ रखा है ? जिनका विलास-स्थान भी मानस ही है, उन चरण-

कमलों में; जिन्हें मेरा मानस सदैव अपनी तरंगों से चूमा करे; जिनके मधुर मधुपान से यह छका रहे ? जिनके पराग से यह पंकिल बने और जिनकी रतनारी छाया से यह रत्नाकर की छवि को मन्द करे।

परावलम्ब और स्वावलम्ब—

पपीहा कैसा सुन्दर राग अलापता है ! कोयल का कुहूकूजन कैसा कमनीय है ! परन्तु उनका यह क्रम नित्य क्यों नहीं चलता ? पपीहे ने अपने सुख को वादल के हाथ बेच रखा है। जब घन-पटल सूने आकाश को आभूषित करता है, तभी उनके सूने मन पर भी भाव-पटल उमड़ते हैं और उन्हें वह अपनी तान से व्यक्त करता है। वादल वरस गया, पपीहे का गान भी हवा में उड़ गया।

कोयल का हृदय वसन्त से अनुरक्त है। ऋतुराज ने सज-सजाकर अपना रूप दिखाया और उसने अपनी हृदय--गाथा सुनानी शुरू की। इधर ग्रीष्म ने इसका राज्यापहरण किया उधर वह मन मारकर मौन हो बैठी।

पर उषा की यह बात नहीं। वह स्वयं रागवती है। वर्षा हो, शरद्, वसन्त हो या ग्रीष्म, उसे सब बराबर। वह तो अपने रंग में मस्त है। नित्य अपना हृदय अनन्त विश्व के सामने खोल रखती है और उसी के आनन्द में विलीन हो जाती है।

अध्ययन

लेखक के यह गद्य-गीत उसकी 'साधना' नामक पुस्तक से लिये गये हैं। लेखक का दृष्टि-कोण बहुत कुछ रहस्यवादी-सा है। उसकी भाषा प्रतीकात्मक है और उसके द्वारा वह अपने पाठक को इस संघर्ष और अपने-पराये से पूर्ण संसार से दूर ले जाना चाहता है। यह स्थान वह

है जहाँ सब कुछ शांत, कोमल और स्निग्ध है। एक प्रकार की अलौकिकता इन गद्य-गीतों में है। 'केवल तुम्हीं' का आशय यह है कि प्रतीक्षा और धैर्य के द्वारा व्यक्ति अपने इष्टदेव को भी मुट्ठी में कर सकता है।

'क्रीड़ास्थल' में लेखक भिन्न-भिन्न तत्त्वों और प्राकृतिक पदार्थों का क्रीड़ास्थल बतलाकर अपने मन का क्रीड़ास्थल इष्टदेव के चरणों में बतलाता है।

'परावलम्ब' और 'स्वावलम्ब' में सांकेतिक भाषा में अपने आत्मिक सौंदर्य के प्रकाश के लिए आश्रयहीनता ही आदर्श है।

विरत=अलग होना। फुरा करती हैं=फूटती रहती हैं, निकलती रहती हैं। कमल-रजोरंजित=कमल की धूलि या पराग से सना हुआ। फेन हास्य हँसती हैं=फेन के रूप में मानों अपनी हँसी बिखराती हैं। लतालियों=लता रूपी सखियों। बाल-संघाती क्षुप=बचपन का साथी छोटा-सा पेड़। अंकुरांगुलियों=अँकुए रूपी अँगुलियों। बङ्क=बाँकी, टेढ़ी। पंकिल=फूलों की धूलि से लथपथ। ऊना-आकाश=बादल रहित आकाश।

प्रश्न

१—राय कृष्णदास की गद्यशैली की विशेषताएँ बताते हुए पं० माखनलाल चतुर्वेदी की गद्य-शैली से उसकी तुलना कीजिए।

व्यक्ति और समाज

(भाषा के दृष्टिकोण से विचार-विनिमय)

[धीरेन्द्र वर्मा]

समाज की इकाई का नाम व्यक्ति है तथा व्यक्ति की अनेकता को ही समाज के नाम से पुकारा जाता है। यदि समस्त व्यक्ति पूर्ण रूप से समान होते तो व्यक्ति और समाज के संबंध में किसी प्रकार की जटिलता नहीं उत्पन्न होती। व्यक्ति की प्रवृत्ति-विशेष को गुणा करके समाज की प्रवृत्ति-विशेष का पता लग जाता तथा समाज की प्रवृत्ति को भाग देने से व्यक्ति की प्रवृत्ति निकल आती। यद्यपि मनुष्य-समाज के समस्त व्यक्ति साधारणतया समान हैं, किन्तु साथ ही संसार में कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतया समान नहीं मिलते। व्यक्तिगत विभिन्नता, स्वभाव की विचित्रता तथा परिस्थितियों की अनेकरूपता, ये सब मिलकर प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को दूसरे से पृथक् कर देते हैं। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की समस्या भी अलग हो जाती है। और ऐसे भिन्न गुण, कर्म और स्वभाव-वाले व्यक्ति से बना समाज अथवा समाज की टुकड़ी भी भिन्न हो जाती है। मूलतः यही व्यक्ति और समाज की समस्या की अन्तर्गत जटिलता है, जिसको सुलझाने में बड़े-से-बड़े मस्तिष्क सफल नहीं हो सके हैं।

उपर्युक्त विषमताओं के कारण वास्तव में व्यक्ति, समाज तथा व्यक्ति और समाज से संबद्ध इतनी अधिक समस्याएँ हैं कि उन सब पर विचार करना इस विचार-विनिमय में भाग लेने वाले किसी एक सदस्य के लिए असम्भव है, और न उससे कदाचित् ऐसी आशा ही की जाती है। अतः मैं यहाँ केवल एक

अत्यंत सीमित क्षेत्र की दृष्टि से कुछ विचार आपके सम्मुख रखूँगा—वह है भाषा की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का प्रश्न। संभव है, उस सीमित क्षेत्र के परिणाम व्यक्ति और समाज के अन्य पहलुओं पर भी कुछ नया प्रकाश डाल सकें।

भाषा एक सामाजिक संस्था है, जिसे व्यक्ति अनेक अन्य परम्परागत तथा समाज द्वारा सुरक्षित अनुभवों के साथ-साथ बचपन से अर्जित करना प्रारम्भ करता है। भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में अब इस विषय के पण्डित यह विश्वास नहीं करते कि यह मनुष्य का प्राकृतिक गुण और रोने, हँसने, भूख लगने, क्रोध करने आदि के समकक्ष है। भूख लगना मनुष्य का जन्मजात गुण है, किन्तु उसकी तृप्ति के लिए भोजन के रूप में प्रत्येक समाज में थोड़ा-बहुत अन्तर होता है। ठीक इसी तरह भाषा को अर्जित करने की शक्ति मनुष्य में विद्यमान रहती है, किन्तु भाषा के किस रूप को वह अर्जित करता हैं, यह सामाजिक परिस्थतियों पर निर्भर रहता है। भूख मिटाने के लिए कोई व्यक्ति दाल-रोटी खाता है, कोई डबलरोटी और मांस तथा कोई दोनों। उसी तरह व्यक्तिगत भाव प्रकट करने के लिए कोई हिन्दी का सहारा लेता है, कोई अँग्रेजी का और कोई दोनों का या अन्य अनेक भाषाओं का।

जब भाषा सामाजिक संस्था है तो यह देखना चाहिए कि व्यक्ति इसे अर्जित कैसे करता है? जिन विद्वानों ने बच्चों की भाषा-अर्जन समस्या का विशेष अध्ययन किया है, उनका कहना है कि बच्चे के भाषा-ज्ञान का अभ्यास प्रत्येक समाज में साधारणतया तीन कालों में विभक्त होता है। पहला प्रारंभिक ऊँ, आ, गा आदि ध्वनि मात्र करने का समय। इन ध्वनियों के द्वारा बच्चे के उच्चारण अवयव पैने होते हैं। क्योंकि इन ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं

होता इसलिए इन ध्वनियों को 'भाषा' की संज्ञा नहीं दी जा सकती; किन्तु एक दिन सहसा बच्चे के मस्तिष्क में इन ध्वनियों में किसी एक के साथ, उदाहरण के लिए "मा" ध्वनि के साथ 'मा' के व्यक्ति की एकता की अनुभूति का उदय होता है। भाषा की संस्था के द्वारा व्यक्ति के समाज का सदस्य बनने की इसे प्रथम दीक्षा कह सकते हैं, पहला कदम कह सकते हैं।

इस अनोखे नवीन अनुभव के बाद बच्चा धीरे-धीरे अनेक अर्थहीन ध्वनियों के साथ अर्थ का सम्बन्ध समझने लगता है, और इस प्रकार भाषा ज्ञान के दूसरे काल में प्रवेश करता है। 'क, उ, आ' ध्वनि-समूह से एक आँख को खटकनेवाले और फुदकनेवाले खिलौने कौवा पक्षी का सम्बन्ध, 'बुब्बू' ध्वनि-समूह से दूध का अर्थ, 'छिच्छी' पेशाब या पाखाने का भाव, 'मैंयाँ' का अर्थ पैर इत्यादि। कई महीने तक बच्चे और मा की एक अर्धकल्पित अर्धवास्तविक निजी भाषा होती है, जिसे वे दोनों ही ठीक-ठीक समझ पाते और प्रयोग में लाते हैं। अन्य लोगों के लिए मा-रूपी दुभाषिए की सहायता की आवश्यकता होती है।

किन्तु जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, वैसे-वैसे वह चारों ओर के अन्य व्यक्तियों की भाषा का स्पष्ट अनुभव करने लगता है। मा को भी वह इससे भिन्न भाषा में बात करते देखता है। मा बहन से कहती है 'दूध ले आ' और जब दूध आ जाता है तो बच्चे से कहती है 'लो दुद्धू पी लो।' इस तरह बुब्बू के साथ वह 'दुद्धू' या दूध शब्द सीख लेता है। और धीरे-धीरे उसके शब्द ज्ञान में से 'बुब्बू' निकल जाता है और दूध रह जाता है। यह बच्चे की भाषा-शिक्षा का तीसरा तथा अन्तिम काल होता है जब उसका अधिकार चारों ओर के समाज की सर्वसम्मत भाषा पर होने लगता है। लगभग तीन वर्ष की आयु तक के बच्चे

का यह भाषा-अधिकार उसकी आवश्यकता के अनुरूप पूर्ण हो जाता है। अब वह अपने चारों ओर बोली जाने वाली भाषा के कई सौ वाक्य सीख लेता है और फलस्वरूप कई सौ शब्दों पर उसका अधिकार हो जाता है। पर अब भी उसके लिए भाव-वाचक संज्ञाएँ समझना असम्भव होता है। उसके विचार-क्षेत्र के अनुरूप ही उसका भाषा-ज्ञान होता है।

इस अंतिम रूपवाली प्रारंभिक भाषा को मातृ-भाषा कहा जाता है और साधारणतया यह ठीक भी है; किन्तु जिन्होंने इस समस्या का वारीकी से अध्ययन किया है उनका कहना है कि उपर्युक्त तीनों कालों में पहुँचकर, मा की गोद से अलग होते ही बच्चा दिन भर में मा के संसर्ग में कम रहता है, चारों ओर के अन्य लोगों के संपर्क में अधिक आता है। खाने और सोने के समय मा की आवश्यकता अनिवार्य होती है। बाकी समय तो वह घर और बाहर इधर-उधर डोलता रहता है—कभी बहन की गोद में, कभी नौकर के कंधे पर, कभी बाबा के साथ। फलस्वरूप बच्चे के लहजे और भाषा-ज्ञान पर इन सब की भाषा का प्रभाव मा की अपेक्षा अधिक पड़ने लगता है। प्रायः बच्चे मातृ-भाषा नौकरों या बहनों से सीखते हैं। कुछ बड़े होने पर हम-जोली बच्चों का एक-दूसरे की भाषा पर विशेष प्रभाव पड़ने लगता है।

इस प्रकार बच्चा रूपी व्यक्ति भाषा-रूपी सामाजिक संस्था को चारों ओर प्रयुक्त होनेवाली भाषा के अनुकरण के द्वारा सीखता है, और फिर जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है और गाँव या मोहल्ले के अन्य व्यक्तियों के संपर्क में आता है उसका भाषा-ज्ञान बढ़ता जाता है। यह प्रक्रिया चार वर्ष की आयु से सोलह-सत्रह वर्ष की आयु तक चलती रहती है। प्रारंभ में तेजी के साथ और फिर धीरे-धीरे। किसान का लड़का पिता या

बाबा के साथ खेत में जाकर खेती-संबंधी विशेष वाक्यावली या शब्दावली सीख लेता है। बढ़ई, कुम्हार या लुहार का लड़का अपने-अपने पेशे की शब्दावली पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। लड़कियाँ अपनी मा, दादी, बहनों तथा पड़ोसियों के साथ रहकर रसोई, सिलाई, बच्चों के पालने आदि से सम्बन्ध रखनेवाली भाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं। अपने समाज की ९० प्रतिशत जनता का भाषा-ज्ञान मौखिक भाषा तक ही सीमित है, अतः उनके भाषा-ज्ञान की परिधि साधारणतः उपर्युक्त प्रकार की रहती है। मौखिक कहानी-किस्सों, गानों तथा आल्हा आदि के द्वारा ग्रामीण साहित्यिक भाषा का परिचय भी धीरे-धीरे ग्रामीण व्यक्ति को हो जाता है। अधिकांश लोग इनके सुनने से ही आनन्द उठाते हैं; किंतु कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति इनको सीख भी लेते हैं, और कुछ तो इस संपत्ति में वृद्धि करने की भी प्रतिभा प्रदर्शित करते हैं।

समाज के शेष १० प्रतिशत बालक, जिन्हें अक्षर-ज्ञान हो जाता है, भाषा और ज्ञान के एक भिन्न क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। वे मातृ-भाषा के साथ मिलती-जुलती देश-भाषा भी सीखते हैं। फिर उसके पढ़ने-लिखने के अभ्यास के साथ-साथ ललित साहित्य, गणित, भूगोल, इतिहास, साधारण विज्ञान आदि का ज्ञान भी अर्जित करते हैं। मातृ-भाषा का ज्ञान केवल मौखिक परम्परा से समाज में चलता है, देश-भाषा में अर्जित ज्ञानराशि लिखित रूप में सुरक्षित रहती है और मौखिक तथा लिखित दोनों रूपों में चलती है। मातृ-भाषा द्वारा अर्जित ज्ञान अब ऐसे व्यक्तियों को बचकाना दिखलायी पड़ता है। मिडिल-पास लड़का प्रायः अपने माता-पिता और निरक्षर गाँववालों को मूर्ख समझने लगता है। एक प्रकार से अर्द्धशिक्षित व्यक्ति चारों

ओर के ग्रामीण समाज से पृथक् हो जाता है। यह देश की वर्तमान शिक्षाप्रणाली का बहुत दोष रहा है, जिसको दूर करने का अब भरसक यत्न हो रहा है। इसका एक ही उपाय है—साक्षरता को व्यापक बनाना, प्रारंभिक पुस्तक-ज्ञान को ग्रामीण परिस्थितियों के निकट रखना और धीरे-धीरे ऊपर उठाना। किंतु यह तो विषय से बाहर की बात है।

भाषा-ज्ञान की एक सीढ़ी और है। इस पर १०० में १ प्रतिशत व्यक्ति मुश्किल से चढ़ पाते हैं। यह है उच्च शिक्षा की सीढ़ी। अपने देश में यह विदेशी अँग्रेजी भाषा के ज्ञान द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त करने के रूप में हो रही है। जैसे-जैसे भारतीय बालक का विदेशी भाषा तथा उसमें सुरक्षित ज्ञान पर अधिकार बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वह अपने चारों ओर के वातावरण से दूर हो जाता है, कुशल इतनी ही रही है कि १०० इन्ट्रेन्स पास करनेवाले विद्यार्थियों में ५० इण्टर में जा पाते हैं, उनमें से मुश्किल से १० बी० ए० पास कर पाते हैं और फिर अंत में एक-दो एम० ए० या एल्-एल्० बी० पास होते हैं। इस प्रकार समस्त समाज में अँग्रेजी में उच्च शिक्षित व्यक्ति हजार में एक मुश्किल से हैं। अपने देश में इन अँग्रेजी-शिक्षित व्यक्तियों की एक अलग जाति बन गयी है। ये चाहे किसी प्रांत के हों, आपस में एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते दिखलायी पड़ते हैं और साधारणतया अँग्रेजी भाषा, साहित्य, पहनावा, खान-पान आदि के अंधानुकरण में व्यस्त रहते हैं। अपवादों की मैं यहाँ चर्चा नहीं कर रहा हूँ। अपने देश के वास्तविक समाज से ये इतने दूर हो गये हैं कि न साधारण समाज इन्हें अपना अंग मानता है और न ये अपने को भारतीय समाज का अंग समझने में गौरव का अनुभव करते हैं; किंतु यह परिस्थिति तो अपने देश के अस्वा-

भाविक राजनीतिक वातावरण के फलस्वरूप पैदा हो गयी थी। इसके दूर होने में एक-दो पीढ़ी लग जायँगी। स्वतंत्र देशों में उच्च-शिक्षित व्यक्तियों का समाज साधारण समाज की स्वाभाविक उच्चतम परिणति होता है। निकट भविष्य में ऐसी ही परिस्थिति अपने देश में भी लौट आवेगी, इसकी पूर्ण सम्भावना है, किंतु यह तब तक सम्भव न होगा, जब तक वर्तमान अँग्रेजी शिक्षित पीढ़ियों के लोग जीवित हैं और अधिकारों के स्थानों पर बैठे हैं।

ऊपर यह दिखलाने का यत्न किया गया है कि किस प्रकार व्यक्ति धीरे-धीरे भाषा की संस्था के द्वारा सामाजिक ज्ञान के संचय की सहायता से समाज का अंग हो जाता है और अपने देश में अन्त में कुछ विशिष्ट व्यक्ति अस्वाभाविक विदेशी भाषा, साहित्य और संस्कृति के ज्ञानार्जन के फलस्वरूप भारतीय समाज से पृथक् भी हो जाते हैं। अपने देश के स्वाभाविक उच्चज्ञान की परम्परा ठीक-ठीक स्थापित करने में कुछ समय लगेगा। संस्कृत-पंडितों के ज्ञान की परम्परा महत्त्वपूर्ण है; किंतु वह सीमित और विकृत हो गयी है। गुरुकुलों और विद्यापीठों में दिये जाने वाले ज्ञान का माध्यम देश-भाषा अवश्य रहती है; किंतु वह ज्ञान सामग्री जो दी जाती है, प्रायः विदेशी ही होती है और बिना पचाये हुए रूप में रहती है। ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मातृ-भाषा और देश-भाषा के माध्यम से भारतीय सामाजिक दृष्टिकोण के निकट रहते हुए, व्यक्ति को शिक्षा दे सकना भारतीय व्यक्ति और समाज की एक केन्द्रीय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है; किंतु इस समस्या पर विस्तृत रूप से विचार करना दूसरों पर छोड़ देना उचित होगा।

भाषा की समस्या पर ऊपर व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया गया; अब समाज के दृष्टिकोण से भी व्यक्ति को देखने का

यत्न करना चाहिए। इस बात का प्रारम्भ में ही उल्लेख किया गया था कि व्यक्ति समाज की इकाई है; किन्तु साथ ही ऐसी प्रत्येक इकाई अपना पृथक् व्यक्तित्व रखती है और यद्यपि व्यक्ति अपने चारों ओर के समाज के निकट रहता है; किन्तु साथ ही प्रत्येक व्यक्ति परम्परागत सामाजिक विचारधारा में परिवर्तन भी उपस्थित करता है। यदि ऐसा न होता तो एक हजार वर्ष पहले जैसा समाज था, वैसा ही आज होता और हजार साल बाद भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। भाषा का इतिहास इस पर क्या प्रकाश डालता है, इस पर यहाँ विचार करना उचित होगा।

इस सम्बन्ध में सबसे पहले इस बात को स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि भाषा नाम की सामाजिक संस्था की रक्षा समाज कैसे करता है। मौखिक भाषा-परम्परा का अस्तित्व केवल उसके प्रयोग या उच्चारण में है। रात के दो बजे, जब किसी देश का समस्त समाज सोता होता है, उस समय उसकी भाषा का अस्तित्व स्वप्नलोक को छोड़ कहीं भी नहीं होता। यहाँ भाषा के लिखित रूप की चर्चा नहीं हो रही है, केवल मौखिक भाषा की बात चल रही है; क्योंकि यही भाषा का स्वाभाविक और सबसे अधिक उपयोग में आनेवाला रूप है। अतः भाषा इस प्रकार की सामाजिक संस्था नहीं है जैसे वस्त्र, आभूषण, बर्तन इत्यादि। भाषा अधिक सूक्ष्म संस्था है। निरंतर प्रयोग के रूप में ही भाषा जीवित रहती है। यदि किसी देश के निवासी अपनी भाषा का व्यवहार छोड़ दें और कोई अन्य भाषा व्यवहार में लाने लगें तो उस देश की वह भाषा मर जायगी और उसका कुछ भी अवशेष नहीं रह जावेगा। प्राचीन समाजों की भौतिक सामग्री तो खँडहरों की खुदाई में मिल जाती है, किन्तु मौखिक भाषा का कोई अवशेष

नहीं मिल सकता। इस प्रकार मौखिक भाषा-परम्परा समाज की पुश्तैनी सम्पत्ति है, जिसे समाज अपने प्रत्येक व्यक्ति को मौखिक रूप में देता है और आशा करता है कि व्यक्ति इसे आगे की पीढ़ियों को देगा। समाज की भाषा-नामक संस्था में समाज का सब कुछ रहता है। ज्ञान-राशि, भावनाएँ, व्यक्तियों को बाँधने का (और अलग करने का भी) सबसे बड़ा साधन, समाज का हँसना, रोना, प्राचीन अनुभूतियाँ, एक प्रकार से समाज का समस्त प्राचीन इतिहास भाषा के शब्दों में सुरक्षित रहता है। भाषा के इस असाधारण सामाजिक महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। जो चीज जितनी निकट होती है, उतना ही वह महत्त्व खो बैठती है। 'ऋषि' शब्द के साथ अपने समाज की कितनी भावनाएँ और कितना इतिहास ओत-प्रोत है। सोच-कर देखिए, भाषा का प्रत्येक शब्द अपने साथ एक भाव-जगत् लाया है—मेला, गंगाजल, हवन, विवाह, फेरे, आत्मा, साधु, रामराज्य, विभीषण, सीता, सावित्री, कुलटा, श्रद्धा, होली, दीवाली, गोरस, माखन, गाय। प्रत्येक समाज की संस्कृति वास्तव में इस एक प्रकार से हवाई भाषा-संस्था की सहायता से बहुत कुछ चल रही है। और समाज अपनी इस संस्था के द्वारा ही नवागत व्यक्ति को सामाजिक संस्कृति की उच्चतम दीक्षा देता है। व्यक्ति भाषा का उपयोग, सदुपयोग तथा दुरुपयोग सभी कुछ कर सकता है।

किंतु, क्योंकि भाषारूपी संस्था अनुकरण के द्वारा ही सीखी जाती है और क्योंकि अनुकरण—ध्वनि तथा अर्थ दोनों ही का-कभी पूर्ण नहीं हो सकता, इसलिए भाषा की इस प्रवृत्ति में ही परिवर्तन के चिह्न छिपे हैं। एक पीढ़ी मातृ-भाषा को जिस रूप में जानती है, अगली पीढ़ी को वह लगभग उसी रूप में सिखला

देती है; किंतु पूर्णतया उसी रूप में नहीं। दो-तीन पीढ़ियों में अंतर बहुत स्पष्ट तो नहीं होता, किंतु जहाँ-तहाँ दिखलायी पड़ने लगता है। धीरे-धीरे दो-तीन सौ वर्षों में प्रत्येक भाषा में काफी परिवर्तन हो जाता है। साधारणतया ५०० वर्ष में भाषा काफी बदल जाती है। ५०० वर्ष भाषा के किसी एक रूप का साधारण जीवन-काल कहा जा सकता है। १००० वर्ष में तो भाषा इतनी बदल जाती है कि आसानी से समझ में नहीं आ सकती। उदाहरण के लिए यदि पटना के ९५० ई० के लगभग रहनेवाले हमारे पूर्वज सहसा आज आ जावें तो आज का पटनावासी अपने इन पूर्वजों की बात नहीं समझ सकेगा और न ये पूर्वज ही वर्तमान पटना-वासियों की बात समझ सकेंगे। वैज्ञानिक परिभाषा में ये पूर्वज मागधी अपभ्रंश बोलते थे और वर्तमान जनता की आधुनिक बोली मगही हो गयी है। किंतु ध्वनि में, व्याकरण के रूपों में और शब्दसमूह में अधिक तेजी से परिवर्तन होने पर भी भाषा की अर्थ-परम्परा में कम तेजी से परिवर्तन होता है। अर्थ परम्परा का परिवर्तन समाज के सांस्कृतिक परिवर्तन पर अधिक निर्भर होता है और यह परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है।

यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। भाषा के सम्बन्ध में दो नियम साथ-साथ लागू होते हैं। व्यक्ति भाषा को विना परिवर्तन के चारों ओर के समाज से ग्रहण करना चाहता है; किंतु साथ ही अनजाने ही, अपूर्ण अनुकरण तथा अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण, उसमें कुछ परिवर्तन भी कर देता है। यह परिवर्तन और अपरिवर्तन का संघर्ष भाषा के सम्बन्ध में निरंतर चलता रहता है। फलस्वरूप भाषा में अपरिवर्तन के साथ परिवर्तन भी होता रहता है; किंतु अनजाने। यही

वात समाज की अन्य संस्थाओं पर भी लागू होती है। जैसे वर्तन, भोजन, पहनावा, धार्मिक विचार, सामाजिक संगठन आदि।

मौखिक भाषा-रूपी सामाजिक संस्था में प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ परिवर्तन अनजाने कर देता है; किंतु लिखित भाषा के स्वरूप को बदलने और तेजी के साथ वदलने में प्रतिभाशाली कुछ ही व्यक्तियों का जान-बूझकर विशेष हाथ होता है। पिछले पचास वर्षों में ही महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल, 'प्रसाद' जैसे लेखक खड़ी बोली पर अपनी स्पष्ट छाप छोड़ गये हैं, और आज भी कुछ व्यक्ति, जैसे मैथिलीशरण गुप्त, पंत, महादेवी, 'दिनकर', भाषा की बागडोर अपने हाथ में लिये हुए हैं और उसे अपनी प्रतिभा और योग्यता के अनुसार तेजी से मोड़ रहे हैं। इस प्रकार इस लिखित भाषा का प्रयोग लाखों पढ़े-लिखे व्यक्ति करते हैं; किंतु इसे जान-बूझकर सँवारना और माँजना कुछ सौ व्यक्तियों के द्वारा ही हुआ है और हो रहा है। इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रतिभाशाली लेखकों के भी समस्त सुधार लोकप्रिय नहीं होते—उनमें से कुछ को पढ़े-लिखे लोग प्रयोग में लाने लगते हैं और बहुतों की उपेक्षा कर देते हैं। साहित्यिक भाषा का भी एक निर्माण-काल होता है—लगभग दो-तीन सौ वर्ष का, और उसके बाद उसकी शैली रूढ़ि हो जाती है।

पिछले कालों में अन्य साहित्यिक भाषाओं के साथ भी ऐसा ही होता रहा है। सूरदास ने साहित्यिक ब्रजभाषा को बनाने की नींव रखी और उसके बाद दो-तीन सौ वर्ष तक अन्य प्रतिभाशाली ब्रजभाषा के कवियों के द्वारा वह बनती रही और फिर रूढ़ि हो गयी। खड़ी बोली उर्दू-शैली को मुश्किल से एक-दो दर्जन असाधारण प्रतिभा रखनेवाले उर्दू के कवियों और लेखकों ने माँजा और सँवारा। इस सम्बन्ध में यह बात और स्मरण रखने

की है कि व्याकरण भाषाशैली का निर्माणकर्त्ता नहीं होता। वह तो लेखकों की या सर्वसाधारण की भाषा के किसी देश-काल विशेष के सर्वसम्मत रूप को नियम-बद्ध भर कर देता है। इसी प्रकार भाषा-शैली का निर्माण राजनीतिक शासकों के हाथ में भी नहीं है। शासन किसी शैली विशेष को उपयोग में लाकर उसे विशेष प्रोत्साहनमात्र दे सकता है। स्वराज्य में यह भाषा देश के प्रतिभाशाली लेखकों द्वारा निर्मित उस देश की ही लिखित शैली होती है। विदेशी राज्य में राजभाषा के पद पर विदेशी भाषा बिठाली जा सकती है; किंतु ऐसी अवस्था में देश का समाज अपनी भाषा और अपने प्रतिभाशाली कवियों और लेखकों के सहारे स्वतंत्र रूप से चलता रहता है। दिल्ली और आगरे में मुगल-दरबार की राजभाषा फारसी थी; किंतु उसी समय ब्रज-साहित्य की माधुरी चारों ओर के समाज के बीच बहती रही। जनता आज भी सूर और मीरा की ब्रजभाषा-रचनाओं से आनंद प्राप्त कर रही है; किंतु दरबार के आश्रय में लिखे गये फारसी के साहित्य का नाम भी नहीं जानती। उसके बाद दिल्ली में अँग्रेजी राज भाषा हुई और कुछ ही दिन पहले तक रही; किंतु वास्तविक समाज हिन्दी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं और बोलियों से ही परिचित है और उसी में सुरक्षित और लिखित साहित्य से आनंद प्राप्त कर रहा है। इस प्रकार साक्षर तथा शिक्षित समाज की भाषा की बागडोर असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्तियों के हाथ में बहुत कुछ पहुँच जाती है। मौखिक भाषा प्राकृतिक नदी के प्रवाह के समान है, और साहित्यिक भाषा कटी-छटी कृत्रिम नदी के समान समझनी चाहिए। फिर उच्चशिक्षित समाज में भाषा के उपयोग का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है—भाषा में ललित साहित्य के अनेक अंगों पर ग्रंथ लिखे जाते हैं, जैसे नाटक, उप-

न्यास, निबंध, जीवनी आदि। साथ ही समाज की उपयोगी ज्ञान-राशि को भाषा में लिपिबद्ध कर दिया जाता है और विशेषज्ञ उसमें निरंतर परिवर्तन करते रहते हैं। संस्कृत में ललित साहित्य के अतिरिक्त धर्म-शास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, गणित, वास्तुविद्या, आरोग्य विज्ञान आदि विषयों पर सैकड़ों ग्रंथ मिलते हैं। संस्कृत एक स्वतंत्र शिक्षित समाज की साहित्यिक भाषा थी। व्रजभाषा, अवधी आदि में हम इस दिशा में कमी पाते हैं; क्योंकि इन भाषाओं में जब साहित्य लिखा गया तब राजभाषा दूसरी थी और समाज की भाषा दूसरी। योरप की भाषाओं में ललित और उपयोगी दोनों प्रकार का प्रचुर साहित्य गत तीन-चार सौ वर्षों में लिखा गया; क्योंकि योरप के समस्त देशों में राजनीतिक स्वतंत्रता और भाषा की स्वतंत्रता साथ-साथ विद्यमान थी। आधुनिक भारतीय भाषाओं में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी है और उपयोगी साहित्य की कमी बहुत शीघ्रता से दूर की जा सकती है।

इस प्रकार समाज के दृष्टिकोण से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज की मौखिक भाषा-परंपरा पर व्यक्ति का अधिक अधिकार नहीं होता; किंतु लिखित भाषा-परम्परा को बनाने, सँवारने और बढ़ाने में प्रतिभाशाली व्यक्ति की देन विशेष है; फलस्वरूप उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति भाषा को उठा सकता है, गिरा सकता है और गढ़े में ढकेल सकता है और फिर भाषा के माध्यम से अच्छे, बुरे, ललित अथवा उपयोगी विचारों का प्रचार भी कर सकता है। इस नये मशीन युग में भाषा का सबसे अधिक कृत्रिम उपयोग रेडियो और सिनेमा के रूप में हो रहा है। जिस तरह प्रसिद्ध सिनेमा अभिनेत्रियों के आभूषणों, पहनावों और गानों की नकल हो रही है वैसे ही उनकी

भाषा-शैली का प्रभाव पड़ रहा है। रेडियो की भाषा भी रेडियो सुननेवालों की भाषा को प्रभावित कर रही है। इन मशीनी संस्थाओं के पीछे भी प्रभाव डालनेवाले कुछ विशिष्ट कलाकार ही होते हैं, यह स्मरण रखना चाहिए।

संक्षेप में व्यक्ति और समाज के निर्माण में भाषा का असाधारण हाथ है। व्यक्ति समाज से भाषा सीखता है, जीवन भर उसका उपयोग करता है, अपनी शक्ति और प्रतिभा के अनुरूप उसमें परिवर्तन उपस्थित करता है और फिर अगली पीढ़ी के हाथ में मशाल थमाकर चला जाता है। व्यक्ति का भाषा-ज्ञान और उपयोग उसकी परिस्थितियों के अनुरूप ही साधारणतया होता है, किन्तु असाधारण व्यक्ति उसे बहुत ऊपर उठा सकता है। व्यक्ति की यह परिस्थिति केवल भाषा-नामक सामाजिक संस्था के संबंध में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक अन्य सामाजिक संस्थाओं के संबंध में भी ठीक उतरती है—जैसे धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, मनोरंजन, कला इत्यादि। साधारण व्यक्ति इन सबकी केवल रक्षा करता है। और असाधारण व्यक्ति इनमें परिवर्द्धन करता है। साधारण व्यक्ति का लीक से न हटना ही उचित है, और यही नियम है। वास्तविक असाधारण व्यक्ति को लीक से हटने से अधिक-से-अधिक शक्तिशाली समाज भी नहीं रोक सकता। साधारण व्यक्तियों से बना समाज प्रारम्भ में ऐसे असाधारण व्यक्ति का विरोध कर सकता है और प्रायः करता है; किंतु फिर उसके परिवर्तनों को कम-से-कम आंशिक रूप में ग्रहण कर लेता है और उनको समाज का अंग बना लेता है।

समाज का स्तर वास्तव में उसके व्यक्तियों के स्तर पर निर्भर है। यदि अधिकांश व्यक्ति साहित्यिक भाषा बोलने लगते हैं तो समस्त समाज की वह भाषा हो जाती है, जैसे यदि अधिकांश

व्यक्ति ईमानदार होते हैं तो समाज ईमानदार कहलाता है और बेईमान व्यक्ति को ऐसे समाज में वैसे ही कठिनाई का अनुभव होता है, जैसे केवल गाँव की बोली जाननेवाली बहू को शहर की शिक्षित स्त्रियों के बीच में कठिनाई का अनुभव हो सकता है। समाज के अधिकांश व्यक्तियों का सामूहिक दबाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है, यद्यपि वह स्वयं इनमें से एक होता है। समाज और व्यक्ति का वैसा ही संबंध है जैसा आदमियों की भीड़-भाड़ में एक-एक आदमी का। अनियंत्रित भीड़ में व्यक्ति बेकाबू हो जाता है, उसका लड़ना-भिड़ना बहुत काम नहीं आता—आँखें मूँदकर आगे बढ़ते चलना ही संभव होता है। शिक्षा से यह भीड़ 'क्यू' या सेना के रूप में परिवर्तित की जा सकती है। ऐसे शिक्षित समाज में व्यक्ति की शक्ति, अधिकार और व्यक्तित्व निखर आते हैं और नियमित दिशा में सामूहिक प्रयास के फलस्वरूप वह समाज की शक्ति को कई गुना बढ़ा देता है। इस शक्ति का सदुपयोग तथा दुरुपयोग, दोनों ही हो सकते हैं। असाधारण व्यक्ति समाज के सामने असाधारण विचार रख सकता है; किंतु उससे लाभ उठाने के लिए बहुत बड़ी संख्या में समाज के व्यक्तियों को उसे अपनाना चाहिए। 'प्रसाद' या पंत का भाषा-माध्यम साधारण या शिक्षित व्यक्ति को भी प्रभावित करने में असमर्थ रहा; क्योंकि सर्वसाधारण के और इनके भाषा स्तर और विचारों के स्तर में बहुत अन्तर है। सूर और तुलसी के भाषा-माध्यम को सर्वसाधारण ने सहज ही में ग्रहण कर लिया; क्योंकि इनका भाषा-स्तर सर्वसाधारण के निकट था और फिर फलस्वरूप ये अपने संदेश और विचारधारा से भी समाज को प्रभावित कर सके।

व्यक्ति और समाज के संबंध में भाषा-संस्था हमें कम से

कम एक शिक्षा तो स्पष्ट रूप से देती है। समाज के अनुरूप व्यक्ति बनता है और व्यक्तियों के अनुरूप ही समाज होता है। साधारण व्यक्ति समाज की परम्पराओं की रक्षा ही कर सकता है। असाधारण व्यक्ति और समाज फलस्वरूप उसके व्यक्तियों के स्तर को ऊपर उठा सकता है। जो समाज अपने व्यक्तियों की प्रतिभा के विकास को पूर्ण अवसर नहीं देता, वह अपना ही गला घोंटता है—अपने ही विकास में बाधक सिद्ध होता है। समाज की उच्चतम निधि समाज के जितने अधिक व्यक्तियों को प्राप्त होती है, उतना ही वह समाज ऊँचा उठता है, चाहिए यह कि समाज की परम्परागत संस्कृति की रक्षा भी होती रहे और व्यक्तिगत प्रतिभा का अधिक-से-अधिक विकास भी सम्भव हो। इन दोनों के उचित सामंजस्य में ही व्यक्ति और समाज का कल्याण है।

अध्ययन

भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० धीरेन्द्र वर्मा का यह लेख बड़ी ही रोचक तथा मनोरंजक शैली में इस विषय का विवेचन और चित्रण करता है कि व्यक्ति समाज की इकाई के रूप में अपना भाषारूपी अधिकार किस प्रकार अर्जित करता है। विषय गूढ़ है, पर लेखक की प्रसाद गुण युक्त शैली ने उसे बोधगम्य कर दिया है। पूरे निबन्ध में कठिन शब्द अथवा मुहावरे ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते।

मशीनी संस्थाएँ=वे संस्थाएँ जो मशीनों के द्वारा चल रही हैं, उदाहरण के लिए सिनेमा और रेडियो। **भाषा-माध्यम**=वह भाषा जिसमें रचना की जाय।

प्रश्न

१—व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है? वे एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित क्यों हैं?

२—व्यक्ति भाषा की संस्था के द्वारा सामाजिक ज्ञान के संचय की सहायता से समाज का अंग किस प्रकार हो जाता है?

३—व्यक्ति और समाज के निर्माण में भाषा क्या भाग लेती है?

४—डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा की गद्य-शैली का वर्णन कीजिए।

जीवन और साहित्य

[सम्पूर्णानन्द]

साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन से है। साहित्यकार शून्य में रचना नहीं करता। जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना वह रह ही नहीं सकता, इसलिए कि वह स्वयं जगत् का ही एक अङ्ग है। लेखक के ऊपर परिस्थितियाँ निरंतर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। लेखक यदि उससे बचने का प्रयत्न करे तो भी नहीं बच सकता और न वह यही कह सकता है कि मैं अपनी घड़ी के अनुसार इतने बजे से लेकर इतने बजे तक अपने चारों ओर की परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करूँगा और इसके बाद नहीं। लेखक चाहे या न चाहे परिस्थितियाँ उस पर प्रभाव डालेंगी ही। जीवन में जो क्रियाएँ हो रही हैं, साहित्यकार में उनकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसीलिए मेरे मत में 'स्वांत:सुखाय' रचना असंभव है। जब हम यह कहते हैं कि तुलसी का साहित्य स्वांत:-सुखाय रचा गया है तो वहाँ पर हमें तनिक रुककर विचार करना चाहिए कि यहाँ स्वांत:सुखाय से हमारा क्या प्रयोजन है। तुलसी ने जिस समय यह घोषणा की कि मैं स्वांत:सुखाय रचना कर रहा हूँ, उस समय हिन्दी के रीति-कालीन कवि किसी-न-किसी राजा के आश्रित होकर जीवन-यापन कर रहे थे। वे राज्याश्रित, शृंगारी कवि अपनी जनता से विलग होकर थोड़े-से व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करने में संलग्न थे। वे परांत:सुखाय रचना कर रहे थे। उनका लक्ष्य अपने संरक्षक राजा को प्रसन्न करना होता था, उनकी प्रतिभा पर व्यक्ति की

पसंद का प्रतिबन्ध होता था। 'बिहारी-सतसई' की भाँति फिरदौसी का 'शाहनामा' भी परांतःसुखाय रचा गया है। भाँड़ों या विदूषकों की भाँति ये रीति-कालीन कवि दिन-रात इसी चिंता में रहते थे कि किन नानाविधि प्रकारों से अपने संरक्षक को प्रसन्न करके उनका कृपाभाजन बना जाय। जिस समय साहित्य का वातावरण इतना दूषित हो रहा था, उस समय तुलसी ने उदात्त स्वर में घोषणा की कि मेरी रचना स्वांतःसुखाय है, तुलसी के सामने समस्त हिन्दू-समाज था। समस्त हिन्दू-समाज के पुनर्जागरण और उसके दोषों के मार्जन तथा सुधार का लक्ष्य तुलसी के सामने था। इसलिए समस्त हिन्दू-समाज के लिए साहित्य रचना ही उनका उद्देश्य था। किसी राजा के आश्रित नहीं थे, किसी का उन पर प्रतिबन्ध नहीं था। वे किसी के खुश करने या इनाम पाने के लिए रचना नहीं करते थे। इस भूमिका में रखकर देखने पर उनके स्वांतःसुखाय का वास्तविक महत्त्व समझ में आता है। वह उनके स्वतंत्र होने की, राज्याश्रय से मुक्त होने की, अपने विश्वास के अनुसार रचना करने की घोषणा है और इस रूप में उसे क्रांतिकारी कहना भी अनुचित न होगा। उनका स्वांतःसुखाय परांतःसुखाय का निषेध करता है, परजन-हिताय का नहीं। साहित्य-निर्माण के समय हमारे साहित्यिकों को भी यह बात स्मरण रखनी चाहिए।

समाज का प्रभाव साहित्यकार पर न पड़े, यह असम्भव है! हाँ, साहित्यकार पलायन अवश्य कर सकता है; आँखें बन्द कर सकता है; जैसा कि दरबारी कवियों ने किया। दरबारी कविता में समाज के प्रभाव से बचने का, उसको दबाने का प्रयत्न स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। दरबारी कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से, समाज के प्रभाव के बल से समाज के प्रभाव को दबाने की

कोशिश की; परन्तु इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि उच्च वर्ग को आसमान पर चढ़ाते समय दरबारी कवियों के मन में ग्लानि अवश्य होती रही होगी। यह बात दूसरी है कि उन्होंने नशा पीकर अपना ग़म ग़लत किया हो।

आज की परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न हैं। आज हमारे सामने एक राजा या महाराजा को प्रसन्न करने का प्रश्न नहीं है। आज हमारे सामने लाखों आदमी हैं, जिन्हें हमको अपनी बात सुनानी है। मैं साहित्य का पंडित नहीं हूँ, साहित्य मेरा विषय नहीं है, लेकिन तो भी आजकल मैं देखता हूँ कि 'नित्य' साहित्य की रचना का प्रश्न ही मुख्य है। दया, प्रेम, करुणा, वीरता आदि 'नित्य' साहित्य की रचना के लिए उपयुक्त विषय नहीं हैं ? यदि ये उपयुक्त विषय हैं ; तो यह कैसे हो सकता है कि आप इनका जिक्र तो करें, लेकिन इनके पात्रों को छोड़ दें ? पात्रों और परिस्थिति का खयाल रखना जरूरी है; क्योंकि इनका खयाल रखे विना रस का उद्रेक नहीं हो सकता। कोरा शब्दाडम्बर टिकाऊ नहीं। रस के लिए आलंबन तथा उद्दीपन सामने रखकर यदि आप राष्ट्रोपयोगी साहित्य की रचना करना चाहते हैं तो आपको सोचना चाहिए कि आपके देशवासी किन परिस्थितियों में जीवन के दिन काट रहे हैं। साहित्यकार तो सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सहृदय संवेदनशील प्राणी होता है। व्यक्ति के, समाज के सुख-दुख की सबसे गहरी और व्यापक प्रतिक्रिया उसी के अन्दर होती है। इसलिए साहित्यकार का यह स्वाभाविक धर्म होता है कि अपने देश और काल की ठीक-ठीक परिस्थितियों का निर्भीक चित्रण करे। आज यदि देश में चारों ओर भूख और महामारी का ताण्डव हो रहा है, यदि लाखों-करोड़ों आदमी भूख से मर रहे हैं, यदि

देश के जन-जन को पग-पग पर विदेशी दासता की ठोकरें मिल रही हैं, *यदि देश दुखी है और भूख, गुलामी और शोषण का शिकार है और साहित्यकार इन सब क्लेशों की उपेक्षा करके मौज का राग अलापता है तो वह राष्ट्रीय जीवन से कोसों दूर है; वह राष्ट्र के प्रति, साहित्य के प्रति, विश्वासघात करता है। उसे साहित्यकार कहलाने का अधिकार नहीं है। वह आकाश-कुसुम देख सकता है, पर वह आँख का अंधा है और राष्ट्र के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। साहित्यकार यदि सच्चा होगा तो उसकी रचना पर जगत् की छाया अवश्य पड़ेगी; परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि साहित्यकार फोटोग्राफर है। साहित्यकार फोटोग्राफर-मात्र नहीं है। यदि केवल फोटोग्राफर होगा तो वह चाहे मिस मेयो की भाँति नाली की सफाई के दरोगा की रिपोर्ट भले पेश कर दे, पर उसका साहित्य साहित्य न होगा। यह उचित है कि साहित्यकार समाज का दोष जाने परन्तु केवल उसी के यथार्थ चित्रण से साहित्यकार का कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता। जिस प्रकार वैद्य शरीर के विकारों को जानने के साथ-साथ स्वास्थ्य के लक्षणों को भी जानता है, उसी प्रकार साहित्यकार को भी समाज-शरीर के विकारों को जानने के साथ-साथ समाज के स्वास्थ्य के लक्षणों को भी जानना चाहिए। उसे स्वास्थ्य और रोग, दोनों का स्वरूप जानना चाहिए। एक बात यहाँ पर स्मरण रखने की यह है कि साहित्यकार केवल प्रचारक नहीं होता। किसी 'वाद' से बँधने पर वह अपने लक्ष्य से गिर जायगा, पर साहित्यकार

*यह लेख तब लिखा गया था, जब देश स्वतंत्र नहीं हुआ था।

—सम्पादक

प्रचारक नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी रचना की सामाजिक उपादेयता नहीं होती। हमारे प्राचीन संस्कृत के साहित्याचार्यों ने साहित्य को उपादेयता की आधारशिला पर प्रतिष्ठित किया है। 'काव्यप्रकाश' में काव्य के लक्षण गिनाते समय काव्य-प्रकाशकार ने 'शिवेतरक्षतये' को भी प्रतिपादित किया है। अशिव की क्षति साहित्य का बड़ा पुनीत अनुष्ठान है। अशिव की क्षति करना साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए। जो साहित्यकार ऐसा नहीं करता, उसे सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश का अधिकार नहीं है। अशिव की क्षति करने के साथ-साथ हमें समाज के रूप पर भी विचार करना चाहिए ? अर्थात् इस प्रश्न पर कि दासता और शोषण की अशिव शक्तियों के विनाश के उपरांत मनुष्य किस ओर जाय, समाज किस ओर जाय ?

योगी की भाँति सच्चे कलाकार की पहचान भी ऋत और सत्य है। जिस बात को विद्वान् तर्क के द्वारा देर में पाता है, उसको कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा, अपनी अन्तश्चेतना द्वारा जल्दी पा जाता है। कोई साहित्यकार राष्ट्र के लिए उपयोगी साहित्य की सृष्टि कर रहा है, इस बात की अकेली पहचान यह है कि साहित्यकार सत्य तथा राष्ट्रीयता को अपनी श्रद्धा के अनुसार जिस रूप में ग्रहण करे उसी रूप में निर्भय होकर व्यक्त करे, भागे नहीं। यदि वह ऐसा करता है तो बिना किसी 'वाद' का प्रचारक हुए उसका साहित्य राष्ट्रीय कहलाने का अधिकारी होगा।

अध्ययन

प्रसिद्ध विद्वान् इतिहासज्ञ और राजनीतिज्ञ डॉक्टर सम्पूर्णानन्द ने इस लेख में यह दिखलाया है कि साहित्य और जीवन का क्या सम्बन्ध

है। इनकी विभिन्नता और सामञ्जस्य की उचित दूरी का यह सुन्दर विवेचन करते हैं। लेखक के वादों से तटस्थ रहते हुए भी, जीवन के अनुभव की उपादेयता वह स्वीकार करते हैं। विशुद्ध भाषा में लिखा हुआ यह लेख लेखक की सुन्दर शैली का परिचायक है।

फिरदौसी=एक फारसी का कवि (९४०-१०२० ई०) शाहनामा का रचयिता। **ग़म ग़लत करना**=दुःख को भूलना।

मिस मेयो=एक अमेरिकन महिला जिसने अपनी 'मदर इंडिया' नामक पुस्तक में भारत की कुरीतियों का ध्वंसात्मक दृष्टिकोण से वर्णन किया है।

काव्य-प्रकाश=मम्मट-रचित लक्षण-ग्रन्थ। **शिवेतरक्षतये**=अमंगल-नाशक। **ऋत**=पूजित, सत्य।

प्रश्न

१—साहित्य-सृजन का मुख्य उद्देश्य क्या है?

२—स्वांतःसुखाय रचना से क्या तात्पय है? क्या वह बहुजनहिताय भी हो सकती है?

३—क्या यह सम्भव है कि बहुजन-हिताय रचना किसी वाद के अधीन न हो?

४—सम्पूर्णानन्द जी की शैली की विशेषताएँ बतलाइए।

वसंत आ गया है

[*हजारी प्रसाद द्विवेदी*]

जिस स्थान पर बैठ कर लिख रहा हूँ उसके आस-पास कुछ थोड़े-से पेड़ हैं। एक शिरीष है जिस पर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गये हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं। जरा-सी हवा चली नहीं कि अस्थि-मालिका वाले उन्मत्त कापालिक भैरव की भाँति खड़-खड़ाकर झूम उठते हैं—'कुसुम जन्म ततो नव पल्लवाः' का कहीं नाम—गन्ध भी नहीं है। एक नीम है। जवान है, मगर कुछ अत्यंत छोटी किसलयिकाओं के सिवा उमंग का कोई चिह्न उसमें भी नहीं है। फिर भी यह बुरा मालूम नहीं होता। मसें भीगी हैं और आशा तो है ही। दो कृष्णचूड़ाएँ हैं। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के हाथ से लगी वृक्षावलि में ये आखिरी हैं। इन्हें अभी शिशु ही कहना चाहिए। फूल तो इनमें कभी आये नहीं; पर वे अभी नादान हैं। भरे फागुन में इस प्रकार खड़ी हैं मानों आषाढ़ ही हो। नील मसृण पत्तियाँ और सूच्यग्र-शिखान्त। दो-तीन अमरूद हैं जो सूखे सावन भरे भादों कभी रंग नहीं बदलते—इस समय दो-चार श्वेत पुष्प इन पर विराजमान हैं, पर ऐसे फूल माघ में भी थे और जेठ में भी रहेंगे। जाती पुष्पों का एक केदार है, पर इन पर ऐसी मुर्दनी छायी हुई है कि मुझे कवि प्रसिद्धियों पर लिखे हुए एक लेख में संशोधन की आवश्यकता महसूस हुई है। एक मित्र ने अस्थान में एक मल्लिका का गुल्म भी लगा रखा है, जो किसी प्रकार बस जी रहा है। दो करवीर और एक कोविदार के झाड़ भी उन्हीं मित्र की कृपा

के फल हैं, पर वे बुरी तरह चुप हैं। कहीं भी उल्लास नहीं, उमंग नहीं और उधर कवियों की दुनिया में हल्ला हो गया, प्रकृति-रानी नया श्रृंगार कर रही है, और फिर जाने क्या-क्या! कवि के आश्रय में रहता हूँ। नितान्त ठूँठ नहीं हूँ; पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे। दो कांचनार वृक्ष इस हिन्दी-भवन में हैं। एक ठीक मेरे दरवाजे पर और दूसरा मेरे पड़ोसी के। भाग्य की विडम्बना देखिए दोनों एक ही दिन के लगाये गये हैं। मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है। पड़ोसी वाला कमजोर, मरियल; परन्तु इसमें फूल नहीं आये और वह कम्बख्त कंधे पर से फूल पड़ा है। मरियल-सा पेड़ है पर क्या मजाल कि आप उसमें फूल के सिवा और कुछ देखें? पत्ते हैं ही नहीं और टहनियाँ फूलों से ढक गयी हैं। मैं रोज देखता हूँ कि हमारे वाले मियाँ कितने अग्रसर हुए। कल तीन फूल निकले थे। उनमें दो तो एक संथाल-बालिका तोड़कर ले गयी। एक रह गया है। मुझे कांचनार फूल की ललाई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फूलों की पकौड़ियाँ भी बन सकती हैं। पर दुर्भाग्य देखिए कि इतना स्वस्थ पेड़ ऐसा सूना पड़ा हुआ है और वह कमजोर, दुबला लहक उठा है! कम-जोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी!

पढ़ता-लिखता हूँ। यही पेशा है। सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे ही थोड़ा-बहुत जानता हूँ। पढ़ा है, हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं है, इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूँ कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि वसंत आ गया, पर इन कम्बख्तों को कोई खबर ही नहीं! कभी-कभी सोचता हूँ कि इसके पास तक संदेश पहुँचाने का क्या कोई साधन नहीं हो सकता? महुआ बदनाम है कि उसे

सबके बाद वसंत का अनुभव होता है; पर जामुन कौन अच्छा है ! वह तो और भी बाद में फूलता है ! और कालिदास का लाड़ला यह कर्णिकार ? आप जेठ में मौज में आते हैं । मुझे ऐसा लगता है कि वसंत भागता-भागता चलता है । देश में नहीं, काल में । किसी का वसंत पन्द्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का । मौजी है अमरूद । बारह महीने इसका वसंत-ही-वसंत है । हिन्दी-भवन के सामने गंधराज पुष्पों की पाँत है । ये अजीब हैं, वर्षा में ये खिलते हैं, लेकिन ऋतु विशेष के उतने कायल नहीं हैं, पानी पड़ गया तो आज भी फूल ले सकते हैं । कवियों की दुनिया में जिसकी कभी चर्चा नहीं हुई, ऐसी एक घास है—विष्णुकांता । हिन्दी-भवन के आँगन में बहुत है । कैसा मनोहर नाम है ! फूल और भी मनोहर होते हैं । जरा-सा तो आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील मेदुर रूप की । बादल की बात छोड़िए, जरा-सी पुरवैया बह गयी तो इसका उल्लास देखिए । बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिए । मैं सोचता हूँ कि इस नाचीज लता को संदेश कैसे पहुँचता है ? थोड़ी दूर पर वह पलास ऐसा फूला हुआ है कि ईर्ष्या होती है, मगर उसे किसने बताया कि वसंत आ गया है; मैं थोड़ा-थोड़ा समझता हूँ । वसंत आता नहीं, ले आया जाता है । जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है, वह मरियल कांचनार ले आया है । अपने मोटेराम तैयारी कर रहे हैं । और मैं ?

मुझे बुखार आ रहा है, यह भी नियति का मजाक ही है । सारी दुनिया में हल्ला हो गया है कि वसंत आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार । अपने कांचनार की ओर देखता हूँ और सोचता हूँ, मेरी ही वजह से यह नहीं रुका है ?

अध्ययन

विद्वान् और सहृदय लेखक ने प्रस्तुत संक्षिप्त व्यक्ति प्रधान-निबन्ध में वसंत के आगमन की मस्ती को बड़ी ही कुशलता से व्यक्त किया है। कवि का प्रकृति-विषयक ज्ञान सराहनीय है और प्रकृति-प्रेम मुग्धकारी। शांति-निकेतन के हिन्दी-भवन का वातावरण आँखों के आगे जैसे जाग पड़ा है। अक्षर-अक्षर से लेखक की जिंदादिली टपक रही है। भाषा प्रवाहमयी और प्राणवान् है।

अस्थिमालिका = हड्डियों की माला। किसलयिकाओं = छोटी-छोटी लाल नयी पत्तियों। मसृण = चिकनी। सूच्यग्रशिखान्त = जिनके छोर सुई की नोक से तीखे हैं।

प्रश्न

१—आचार्य पं हजारीप्रसाद द्विवेदी की गद्य-शैली की विशेषताएँ बताइए।

२—निबन्ध किसे कहते हैं ? वणनात्मक निबन्ध के आदर्श की दृष्टि से इस लेख के गुणों पर प्रकाश डालिए।

गांधी और कबीर

[पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल]

अपनी सन् १९३५ ई० की हरिजन-यात्रा में जब महात्मा गांधी काशी पहुँचे थे, तब कबीर-मठ में उनसे यह सुनकर कि मेरी माता कबीर-पंथी थीं, उपस्थित जन-समुदाय को विस्मय सा हुआ था; परन्तु जो लोग महात्मा गांधी और कबीर की विचार-धारा से परिचित हैं, उनके लिए इसमें विस्मय की कोई बात नहीं; क्योंकि वे जानते हैं कि उन दोनों में कितना अधिक साम्य है। उनके लिए तो आश्चर्य की बात यही है कि लोग महात्मा गांधी की विचारधारा का मूलस्रोत ढूँढ़ने के लिए रूस, इँगलिस्तान और अमरीका जाते हैं। गांधी के निर्माण में टाल्स्टाय, रस्किन और सम्भवतः लायड गैरिसन आदि के विचारों का भी हाथ रहा है सही, पर गौण रूप में। गांधित्व की गंगा का गोमुख मूलतः कबीर की शिक्षाओं में है, जिन्हें उन्होंने माता के दुग्ध के साथ पान किया था और जो इसी कारण उनकी नस-नस में व्याप्त है। टाल्स्टाय आदि के विचार तो उनके हृदय में सोती हुई उस चिनगारी को सुलगाने-मात्र में कारण रूप हुए हैं, जिसे उन्होंने अपनी माता के द्वारा कबीर से आध्यात्मिक दाय में प्राप्त किया था।

गांधी की सबसे बड़ी विशेषता, जो उन्हें कबीर के साथ ले जाकर रखती है, उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा है। वे हमेशा उस परम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, जिसे उन्होंने कबीर के शब्दों में अनिर्वचनीय ज्योति अथवा परम प्रकाश कहा है। इस प्रकाश की उन्हें, थोड़ी-सी ही सही, झलक अवश्य प्राप्त हो

गयी थी। उसी परम ज्योति राम* (सब में रमने वाले) में अपनी जीवन-ज्योति को मिला देने का उन्होंने सफल प्रयत्न किया है, उनकी आत्मकथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनके सब कामों में वही ज्योति जगमगा रही है। उस दुर्बल से शरीर को लोक-कल्याण में प्रवृत्त होने की अनन्त शक्ति उसी ज्योति के दर्शन से प्राप्त हुई है।

उसके दर्शन ने उनको सत्य का सबसे बड़ा समर्थक बनाया था। कबीर की ही भाँति उनके लिए सत्य ही एकमात्र परमात्मा था। सत्य की स्वानुभूति के प्रकाश में ही वे जगत् की सब बातों को देखना चाहते थे। उनके लिए कार्याकार्य का वही एक मापदंड था। अपने प्रत्येक कार्य के लिए उसी की अनुज्ञा चाहते थे। उसी के भीतरी शब्द की ओर वे हमेशा अपने कान लगाये रहते थे और उसी के आदेश के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते थे, फिर चाहे ऐसा करने में सारी दुनिया के विरुद्ध जाना पड़े। इसी अभिप्राय से कबीर अपने को, 'सत्य नाम का उपासक' और गांधी अपने जीवन को 'सत्य के प्रयोग' कहते थे।

कबीर की ही भाँति गांधी भी राम-नाम की महिमा खूब गाया करते थे, परन्तु कबीर ही की भाँति उनका भी राम से अभिप्राय दाशरथि राम से न होकर परब्रह्म सत्य राम से था, जो अज, अनादि और अनाम है। जहाँ कबीर कहते हैं, "दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम-नाम का मरम है आना," वहीं गांधी जी के

---

*उनका जीवन ही राममय था, उनके कृत्य प्रार्थना-रूप थे। जैसे कबीर अजपा जाप के द्वारा साँस-साँस में राम-नाम का जप करना विधेय समझते थे उसी प्रकार गांधी भी। कबीर कहते हैं—"सहस इकीस छसै धागा निहचल नाकै पोवै"। उसी प्रकार गांधी जी का कहना है—"राम नाम का एकतारा तो चौबीसों घंटे, सोते हुए भी श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से चलता रहना चाहिए।"

सेक्रेटरी भी लिखते हैं—"प्रार्थना में गांधी जी का ध्यान निराकार सर्वव्यापी प्रभु की ओर रहता है। राम, जिसको वे पूजते हैं, उनकी कल्पना का है, न तुलसी-रामायण का न वाल्मीकि का।" ईश्वर अवतार लेता है अवश्य, परंतु उसी अर्थ में, जिसमें प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का अवतार है। कबीर का अनुसरण करते हुए गांधी सबके हृदयस्थ परमात्मा की ओर संकेत कर जन-समाज के सामने महत्त्व का अभिनव मार्ग खोल रहे हैं। अटूट लगन और दृढ़ सचाई के साथ यह मार्ग सबके लिए सुगम है। मनुष्य को यदि अपने इस तात्त्विक महत्त्व का सच्चा अनुभव हो जाय तो वह कितना ऊँचा उठ सकता है, सच्चे देवलोक को (इन्द्रियलोलुपों के कल्पित स्वर्ग से अभिप्राय नहीं) पृथ्वी पर उतार ला सकता है। सब राम और कृष्ण हो सकते हैं। गांधी का यह प्रयोगानुमोदित व्यवहार निस्संदेह अन्याय और अत्याचार के लिए खुली ललकार है।

परंतु इसे गर्व और अहंकार को खुलकर खेलने के लिए निमंत्रण नहीं समझना चाहिए। उनमें झूठी मान-मर्यादा का जरा भी विचार नहीं, जो नाममात्र के बड़े आदमियों से जरा-जरा से पापों को छिपाने के लिए बड़े-बड़े काम करवाती है। वे तो हिमाचलाकार गलतियों को स्वीकार करने में भी नहीं हिचकते। वास्तविक विनय की अनुभूति के साथ ही उसे सीखना और काम में भी लाना चाहिए; गांधी साम्राज्य को कँपा देने वाली धमकी घुटने टेक कर देते हैं। जो अपने लाल की लाली में लाल होना चाहता है, परमात्मा के प्रेम में रंग कर स्वयं परमात्मा होना चाहता है, उसे पहले सर्वत्र लाल की लाली देखना, परमात्मा के दर्शन करना चाहिए*—अपने में ही नहीं

*लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली ढूंढ़न मैं चली, मैं भी हो गई लाल॥—कबीर

प्रत्येक जीव में, चर और अचर में, अणु-परमाणु में। यह मुँह से कहना तो आसान है किन्तु इसकी वास्तविक कठिनाई तब जान पड़ती है, जब अपने भेजे की भूखी लाठी, खून की प्यासी तलवार, प्राणों की ग्राहक गोली तथा इनका प्रयोग करनेवाला विरोधी सामने होता है। इनमें भी परमात्मा के दर्शन कर सकना मानवता की सबसे बड़ी विजय है, जिसे गाँधीजी ने सबके लिए आदर्श बतलाया है और अपने जीवन में सफलता के साथ उतारा है। यही सर्वग्राही प्रेम कबीर का बल था, यही गांधी का बल है। भौतिक शक्ति न उनसे जीत पायी, न इससे। प्रेम का क्षेत्र कुछ ऐसा विचित्र है कि उसमें पराजय भी विजय हो जाती है; क्योंकि पराजित प्रेम के अलक्ष्य प्रभाव का प्रतिरोध ही नहीं हो सकता।

गांधी का धर्म सब विशेषताओं और आडम्बरों से शून्य सरल धर्म है, जो सर्वदा और सर्वत्र एक रस रहता है। यदि कबीर के शब्दों में गांधी के धर्म का सार बतलाना चाहें तो कह सकते हैं—"साईं सेती साँच रहु, औराँ सूँ सुध भाई।" परमात्मा में सच्ची लगन और प्राणिमात्र के साथ शुद्ध व्यवहार—यही धर्म का सार है। इसको काम में लाने के उपाय देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं, परन्तु यह मूल-धर्म स्वयं बदल नहीं सकता। कबीर सब धर्मों में से पाखण्ड को हटाकर धर्म के इसी शुद्ध स्वरूप को लोगों के सामने रखना चाहते थे, और गांधी भी सब धर्मों के आवरण की ओर दृष्टि-पात न कर इसी मूल-तत्त्व की ओर दृष्टिपात करते थे। इसी कारण सब धर्मों और सब धर्म-प्रवर्तकों में उनकी श्रद्धा थी।

गांधी और कबीर, दोनों कथनी और करनी में पूर्ण साम्य के समर्थक हैं। जो कहते हैं, वही करते भी हैं। वे मन, वचन

और कर्म, सबमें सामंजस्य बनाये रखते हैं। जीवन की वह शुद्धता, जिसको वे लक्ष्य करते हैं, वाणी तक ही सीमित नहीं। वे उसे 'रहकर' दिखाते हैं। यही कारण है कि उनके विरोधी को भी उनकी सत्यता में अविश्वास नहीं होता और यही कारण है कि जगत् के कोने-कोने में उनकी सत्य-प्रसारक वाणी श्रद्धा के साथ सुनी जाती है।

'मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्' ने ही आज सब धर्मों को चौपट कर रखा है। सिद्धांत रूप में तो सब परमात्मा की सर्वव्यापकता मानते हैं, सबमें परमात्मा का अंश और सबको परमात्मा के सम्मुख बराबर समझते हैं, परन्तु जब सिद्धांतों को कार्य में परिणत करने का अवसर आता है तब मनुष्य का आभिजात्य गर्व, अहंकार और अधिकार मद ठेस खाकर व्याकुल हो उठता है और जो परमात्मा के सम्मुख बराबर हैं वे आदमी के सम्मुख ऊँच-नीच हो जाते हैं। हमारे सब दर्शनों का जन्म ही सांसारिक दुःख का अंत करने के उद्देश्य से हुआ है। परन्तु मनुष्य अपने व्यवहार से जिन विषमताओं, अन्यायों और अत्याचारों का अंत कर सांसारिक जीवन में यत्किंचित् शांति और सुख संचार कर सकता है, दार्शनिक क्षेत्र के परमार्थ और व्यवहार का भेद कथनी और करनी के भेद का आवरण बनकर उसे भी नहीं होने देता। कबीर का पदानुसरण करते हुए गांधी ने इस स्थिति के निराकरण का प्रयत्न किया है। इसी ने दोनों को पददलित शूद्रों का बन्धु बनाया है। गांधीजी ने तो शूद्रों के अभ्युत्थान-यज्ञ में अपने प्राण ही होम दिये। उनके लिए वह एक सामाजिक सुधारमात्र नहीं, एक पारमार्थिक कर्त्तव्य था, परमात्मा को प्रसन्न करने का एक प्रधान उपाय था। शूद्रों के प्रति अन्याय करके हम परमात्मा की अप्रसन्नता के भाजन बन रहे हैं। बिहार और

क्वेटा के भूकंप उनकी दृष्टि में इसी अप्रसन्नता के द्योतक थे। अस्पृश्यता को वे हिन्दू-जाति का कलंक मानते थे। अछूत अछूत नहीं हैं। उन्हें अछूत मानकर हम स्वयं अछूत बन रहे हैं।

इस प्रकार गांधीजी के हरिजन आन्दोलन का आरंभ कबीर ने ही कर दिया था। कबीर के लिए हरिजन होने से बढ़कर जाति नहीं—'हरिजन सवीं न जाति।' इसीलिए शूद्रों को उन्होंने हरिजन बनने का आदेश दिया। गांधी भी उन्हें हरिजन कह कर यही जता रहे हैं कि हरिजन का पद सब जातियों से ऊपर है। पर कबीर ने हरिजन शब्द को शूद्र का पर्याय नहीं बनाया है। सब शूद्रों को हरिजन न कहते हुए भी उन्होंने शूद्रों को नीच समझने के लिए हिन्दुओं को खूब फटकारा है।

प्राचीन काल में अध्यात्मवादी लोग भौतिक वस्तुओं को इतना तुच्छ समझते थे कि सब छोड़-छाड़कर जंगलों में जाकर एकांत-सेवन करते थे। जगत् उनके महान् सिद्धान्तों का व्यावहारिक लाभ नहीं उठा सकता था, काननों में सिंह मुनियों के तलवे सहलाया करते थे और बस्तियों में महाभारत होते थे! राजा जनक का पदानुसरण करते हुए कबीर ने एक और पहलू में भी तपस्या को देखा। उन्होंने उस निर्बल तप की तुच्छता बतलायी, जिसका लोभ, मोह, मद, मत्सर से दूर काननों और कन्दराओं में ही निर्वाह हो सकता है। जिस तप में इतना बल नहीं कि इनके बीच में रहकर इनसे प्रभावित न हो, वह नाम का ही तप है। तप का उद्देश्य शृङ्गी ऋषि बनना नहीं, जनक बनना है। वास्तविक तप वह है जिसके सामने मायिक शक्तियाँ स्वयं अप्रतिभ हो जायँ। लोक को क्षेत्र बनाकर चलनेवाला तप वास्तविक अन्तःशुद्धि का स्वतः प्रमाण है और साथ ही लोक शुद्धि का जनक भी। इसी तप ने रामानन्द और कबीर को

मध्य-युग की बहुत-सी सामाजिक विषमताओं को दूर करने के प्रयत्न में लगाया था ।

परन्तु गांधी इससे एक पग आगे और बढ़ गये हैं । वे सामाजिक ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्र में भी आध्यात्मिक भावना का प्रयोग करना चाहते हैं । उनकी शिकायत है कि सारी बुराई की जड़ आध्यात्मिकता का अभाव है । यही कारण है कि और जगह जो छल-कपट समझा जाता है, वह राजनीति की सीमा में अनुचित नहीं माना जाता । राजनीति की सब निरंकुशताओं को दूर करने के लिए वे राजनीति के क्षेत्र में भी धर्म भावना का उदय चाहते थे, इसीलिए उन्होंने सत्याग्रह के अस्त्र का निर्माण किया था । उन्हीं के शब्दों में 'सत्याग्रह राजनीति में धर्म-भावना के प्रवेश का प्रयत्न है ।' राजनीतिक जीवन की कुटिलताओं को वे उसके द्वारा दूर करना चाहते थे, इसीलिए उनके अनुसार वह बड़े से बड़े अत्याचारी को घुटनों पर ला सकता है ।

यह कबीर की आध्यात्मिक प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि उनके सिद्धान्तों का सर्वाङ्गीण प्रयोग-मात्र है । यदि कबीर आज होते तो वे भी संभवतः गांधी की भाँति राजनीति में कूदते दिखायी देते । कुछ लोगों का विश्वास है कि कबीर ने राजशक्ति का विरोध भी किया था । फरिश्ता का कहना है कि किसी फकीर ने सिकन्दर लोदी को हिन्दुओं के धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप करने के लिए फटकारा था, जिससे क्रुद्ध होकर सिकन्दर तलवार लेकर उसे मारने दौड़ा था । विल्सन आदि विद्वानों का अनुमान है कि यह फकीर कबीर ही था । यद्यपि मैं इससे सहमत नहीं, फिर भी इससे इतना स्पष्ट है कि साधु-सन्त राजाओं का विरोध करना बुरा नहीं समझते थे । कबीर ने राजनीति में उतना हस्त-

क्षेप नहीं किया। इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो यह कि उस समय सम्भवतः पशुबल का इतना जोर था कि आध्यात्मिकता की ही रक्षा के लिए यह श्रेयस्कर समझा गया हो कि वे राजनीति से अलग रहें; अथवा यह कि तत्कालीन शासन जनता के जीवन में उस प्रकार व्याप्त न हो, जिस प्रकार आज है और सुल्तानों का अत्याचार—महामारी, भूकम्प आदि ईश्वरीय प्रकोपों की भाँति—कभी ही कभी घहराता हो और जनता के जीवन पर कोई स्थायी प्रभाव डाले बिना चला जाता रहा हो।

परन्तु गांधीजी के कार्य सम्पादन के शस्त्रास्त्रों में आमरणोपवास अथवा भूख-हड़ताल वाला उपाय शायद कबीर को पसंद न होता। आमरणोपवास की तो बात ही क्या है, कबीर व्रतोपवास तक में विश्वास नहीं करते थे। व्रतोपवास के संबंध में कबीर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

अन्ने बाहर जे नर होवहिं, तीन लोक महिं अपनो खोवहिं।
अन्ने बिना न होय सुकाल, तजिये अन्न, न मिलें गोपाल ॥

अन्न त्यागने से गोपाल नहीं मिल सकते, आध्यात्मिक सिद्धि नहीं हो सकती; यह कबीर का मत है।

परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यदि कबीर गांधीजी के स्थान में होते तो वे भी आमरणोपवास का व्रत न ठान बैठते; क्योंकि जिन महापुरुष की किसी लक्ष्य की एकतान लगन होती है; उनके विचारों की गति समझना औरों के लिए बहुत कठिन काम है। सामान्य तर्क वहाँ बेकाम हो जाता है। ऐसे लोग बहुधा तर्काश्रित होने के बदले भावनाश्रित हो जाते हैं। समर्थ कवि की भाँति वे बेजाने अपनी भावनाओं में डुबकी मारते बहते चलते हैं और साथ में जनसमाज को भी बहा ले जाते हैं। कबीर का यह व्यञ्जित करना कि बकरी की खाल इसलिए निकाली

जाती है कि वह पत्ती खाती है* और गांधी का यह घोषित करना कि वह बिहार और क्वेटा के भूकम्पों के कारण अछूतपन का कलंक है, कुछ इसी प्रकार का है। इन कथनों की ओर दोनों महात्माओं का उतना ध्यान नहीं जितना कबीर का इस पर कि बकरी नहीं खानी चाहिए और गांधी का इस पर कि अछूत-पन मिट जाना चाहिए। मेरे कहने का यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि कबीर या गांधी प्रचार की दृष्टि से जान-बूझकर घटनाओं को तोड़ते-मरोड़ते हैं और इस प्रकार जनता की भावुक प्रवृत्ति से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। असल में उनकी भावनामग्न दृष्टि में वे घटनाएँ दिखायी ही वैसी देती हैं। तार्किक दृष्टि से चाहे जो कहा जाय, मेरा हृदय इस बात का तीव्र अनुभव करता है कि इस मंगलमूल भावनाश्रितता के ऊपर संसार का सारा तर्क निछावर कर दिया जा सकता है। संसार में यदि शास्त्रार्थी तार्किकों के स्थान पर टाल्स्टाय के मूर्ख ईवानों की सृष्टि होती, जिन पर गांधी जी इतने अनुरक्त हैं, तो संसार अधिक शांत और सुखी होता।

जनता गांधी को विशेषकर स्वराज्य-आंदोलन के नायक के रूप में जानती है; परन्तु उनका स्वराज्य भी आध्यात्मिक है, जनता का भौतिक स्वराज्य तो उसका एक बाहरी लक्षणमात्र है। स्वराज्य से उनका मूल अभिप्राय अपने 'स्व' के ऊपर यम, नियम, शम, दम के द्वारा राज्य करना है। इन्द्रियों को वश में कर काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि षडरिपुओं के प्रभाव से बाहर निकलकर 'स्वराट्' होना ही असली स्वराज्य है। इनके प्राप्त हो जाने पर देश का स्वराज्य अपने आप साथ लगा चला

*बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल,
जो बकरी को खात हैं, तिनको कौन हवाल। —कबीर

आवेगा। इसी शर्त पर उन्होंने एक वर्ष के भीतर स्वराज्य ले आने का आश्वासन दिया था। परन्तु उनकी शर्त असम्भव-सी थी; सबका गांधी होना, स्वराट् होना असाध्य है। इसीसे लोगों की आशा पूरी नहीं हुई। चाहे जो हो, गांधीजी के लक्ष्य के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। इसमें संदेह नहीं कि कबीर ने भी शुद्ध संयत जीवन के द्वारा आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करने की ही प्रेरणा जन-समाज को दी थी।

गांधी ने अपने अहिंसा सिद्धान्त द्वारा भारत के राजनीतिक जीवन में जिस सरलता, पवित्रता और ऋजुता को लाने का प्रयत्न किया है, उसके सम्बन्ध में सन्देह की जगह नहीं, और मानव-जाति के जीवन के लिए जो महान् सम्भावनाएँ दिखला दी हैं उनका तो कहना ही क्या है। यह कहने के लिए उनके वास्तविक क्रियात्मक उपायों का अनुमोदन करना आवश्यक नहीं है। गांधी की शिक्षा आतंकवादी युवकों को सन्मार्ग पर लगाने का उस समय एक प्रधान साधन थी। केवल राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों को सुलझाने में भी सत्याग्रह का सिद्धान्त काम में लाया जा सकता है। चाहे व्यक्तिगत व्यवहार हो, चाहे राष्ट्रीय और चाहे अन्तर्राष्ट्रीय, गांधी बतलाते हैं कि यदि सत्य पर सदैव दृष्टि रखी जाय तो ऐसी स्थितियाँ आ ही नहीं सकतीं, जो आदमी को एक दूसरे के खून का प्यासा बना दें। ऐसी दशा में यदि गलतफहमी हो भी जाय तो सत्य के न्यायालय में उसका निराकरण आसानी से हो सकता है। बुराई का नाश करने के लिए बुरे का शत्रु होना जरूरी नहीं है। बुरे का मित्र होकर भी बुराई का नाश कर दिया जा सकता है। सत्य में निष्ठा और असत्य का बहिष्कार—यही एक सीधी-सादी सी बात है, जिससे

मनुष्य-जाति के प्रायः सब संकट दूर हो सकते हैं। गांधी की सत्य-निष्ठा ने उन्हें अमर बना दिया है। यदि मानव-जाति उनके सन्देश को खाली सिर झुकाकर ही न सुने, उसे उत्साह के साथ काम में भी लावे, तो उसका अस्तित्व धन्य हो जाय। राष्ट्रसंघ यदि इस नीति को सर्वांश में अपना सके तो गैसों, बमगोलों और तोपों का डर ही न रह जाय। प्रवंचना और कुटिलता से पूर्ण राजनीति के क्षेत्र में सरल सत्य का इस प्रकार प्रवेश कराने के कारण महात्मा गांधी इस युग के ही नहीं, सब काल के सबसे बड़े शान्ति के दूत हैं।

गांधी की शान्तिप्रसारक वाणी जगत् के कोने-कोने में पहुँच चुकी है। सारा जगत् आज उन्हें एक स्वर से इस युग का सबसे बड़ा महापुरुष मानता है। मुँह से कहने में चाहे कोई हिचके, परंतु रंक से लेकर सम्राटों तक के हृदय में उनके प्रति अटूट श्रद्धा अंकित है। कबीर का नाम भी झोपड़ियों से लेकर महलों तक में अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। इसका कारण यह है कि दोनों भारतीय आध्यात्मिकता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। भारत अग्रजन्माओं का देश है, जो अपने चरित्र से संसार को शिक्षा देते रहे हैं। भारत का यह अग्रजन्मत्व पाँच शताब्दी पहले कबीर के रूप में प्रकट हुआ था और आज गांधी के रूप में प्रकट हुआ। परमात्मा की जो विभूति, मानवता का जो महत्त्व पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर कहलाया, वही बीसवीं शताब्दी में गांधी। केवल आवरण का भेद है, तथ्य का नहीं।

यदि कबीर अपनी ही कविता के समान, सीधी-सादी भाषा में उल्लिखित आदर्श हैं, तो गांधी उसकी और भी सुबोध क्रियात्मक व्याख्या। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस विशद व्याख्या की प्रतिलिपि बन सके तो जगत् का अपार कल्याण हो।

अध्ययन

डॉ० बड़थ्वाल ने महात्मा गांधी और कबीर के सिद्धांतों में जो सामंजस्य देखा है, वह उनकी मौलिक सूझ का द्योतक है। उन्होंने इन दोनों महापुरुषों के सिद्धांतों का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। आपने गांधी जी को कबीर के सिद्धांतों को बढ़ाकर उनका क्रियात्मक रूप दिखलाने वाला बतलाया है।

रस्किन=(१८१९-१९००) अंग्रेज आलोचक और लेखक।

विलियम लाइड गैरिसन=(१८०५-१८७९) अमेरिकन संपादक, जिसने दास-प्रथा का भयंकर विरोध किया।

दाय=पैतृक धन, जो उत्तराधिकारी को प्राप्त हो सके।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्=मन में दूसरा भाव रहते हुए दूसरी बात कहना।

स्वराट्=स्वयं प्रकाशित होना। ऋजुता=अनुकूलता, कोमलता। अग्रजन्मा=ब्राह्मण।

प्रश्न

१—गाँधी और कबीर के सिद्धांतों में क्या सामंजस्य पाया जाता है?

२—"यदि कबीर अपनी ही कविता के समान, सीधी-सादी भाषा में उल्लिखित आदर्श हैं, तो गांधी उसकी और भी सुबोध क्रियात्मक व्याख्या"—इस कथन के सम्बन्ध में सप्रमाण अपना मत दीजिए।

३—डॉक्टर बड़थ्वाल की गद्य-शैली पर प्रकाश डालिए।

रूस में प्रवेश

[*राहुल सांकृत्यायन*]

तीसरी बार रूस जाने का निश्चय मैंने १९४३ में ही कर लिया था, किंतु अंग्रेज सरकार ने पास-पोर्ट देने में हीला-हवाला करके एक साल बिता दिया। उसके बाद फिर ईरान के बीजा मिलने में कई महीने लगे। अंत में किसी तरह भारत छोड़कर ८ नवम्बर, १९४४ को मैं ईरान की राजधानी तेहरान पहुँचा था। तेहरान पहुँचते-पहुँचते पास का पैसा करीब-करीब खतम हो चुका था। युद्ध के समय चीजों का दाम ऐसे ही बहुत महँगा था और मैं ईरान की राजधानी में एक तरह खाली हाथ पहुँचा, यह बतला चुका हूँ। लेकिन मानवता हर जगह आदमी को सहायता देने के लिए तैयार देखी जाती है। मिर्जा महमूद अस्पहानी से वहाँ परिचय हो गया और फिर मुझे कोई तकलीफ नहीं रही। कुछ ही समय बाद भारत से पैसे भी आ गये, लेकिन तो भी जो अकारण बंधुता मिर्जा महमूद ने दिखलायी और जिस तरह का सद्व्यवहार उनकी सौतेली मा खानम इस्मत नाजिमी ने किया, वह सदा स्मरणीय रहेगा। एक घुमक्कड़ अपने ऊपर किये गये उपकार का प्रतिशोध कैसे कर सकता है ? किंतु कृतज्ञता की मधुर स्मृति तो जीवन भर रख सकता है। ८ नवम्बर, १९४४ से ३ जून, १९४५ ई० तक सात महीने मुझे जिस स्थिति में रहकर काटने पड़े, उसे असह्य प्रतीक्षा ही कह सकते हैं। कभी-कभी भारत लौट जाने का मन करता था, तो मेरे भारतीय मित्र अपनी चिट्ठियों में और ठहरने को कहते और वहाँ सोवियत दूतावास की चौखट अगोरते-अगोरते मन

उकता गया था। यह भी पता नहीं लगता कि बीजा मिलेगा भी। लड़ाई के दिनों में चिट्ठियों की यह हालत थी कि मेरे मित्र सरदार पृथ्वीसिंह की २२ फरवरी, १९४५ की चिट्ठी मुझे २४ मई को मिली अर्थात्—बम्बई से तेहरान ३ महीने के रास्ते पर था। हाँ, तार आसानी से मिल जाते थे। लेकिन तार में अधिक बातें नहीं लिखी जा सकती थीं।

३ मई (१९४५) को हिटलर और गोयबल की आत्महत्या की भी खबर आ गयी। ८ मई को जर्मनी ने बिना शर्त हथियार डालने के कागज पर हस्ताक्षर भी कर दिया; किंतु मैं अभी अनिश्चित अवस्था में ही था। हाँ इसके बाद दूतावास के लोगों के कहने के अनुसार आशा कुछ ज्यादा बलवती हुई। तेहरान में भी रहना आसान नहीं था। खर्च के अलावा वहाँ सरकार से अनुमति लेते रहना पड़ता था। २६ मई को सोवियत कौंसलत में गया। पता लगा कि बीजा आ गया। आज ही मेरे पासपोर्ट पर मुहर भी लग गयी। इन्तूरिस्त (सोवियत यात्रा एजेन्सी) से पूछा तो उसने बताया कि मास्को तक हवाई जहाज का किराया ६६० तुमान (१ रु० = १ तुमान था) लगेगा और १६ किलोग्राम (१८ सेर) के बाद हर किलोग्राम पर ६ तुमान सामान का लगेगा। अन्दाज से मालूम हुआ कि नौ सौ तुमान खर्च आयगा। हम तो अब समझते थे कि मैदान मार लिया। अब २१ मई को ईरानी दफ्तर में निर्यात का बीजा लेने गये, तो कहा गया—माल-विभाग का प्रमाणपत्र लाइए कि आपने यहाँ इतने दिनों रहकर जो कुछ कमाया, उसका टैक्स अदा कर दिया। माल-विभाग में जाने पर कहा गया—दरख्वास्त दीजिए, जाँच की जायगी। मैं तो सोवियत यात्रा एजेन्सी (इन्तूरिस्त) से टिकट भी खरीद चुका था, ३१ मई को यहाँ से जाने के लिए तैयार था। वैसे सब जगह

नौकरशाही की मशीन बहुत धीमी गति से चलती है, जिसमें ईरानी मशीन तो अपना सानी नहीं रखती। उधर मेरे रहने के बीजे की मियाद केवल तेरह दिन और रह गयी थी। यदि उसके वाद रहना पड़ा तो, फिर बीजा लेने की दिक्कत उठानी पड़ती। ब्रिटिश दूतावास में जाने पर रिजवी साहब ने कौन्सल की ओर से प्रमाणपत्र दे दिया कि मैंने यहाँ कोई कारबार नहीं किया। लेकिन अभी तो उसे फारसी तर्जुमा करके देना था। अगले दिन अनुवाद लेकर फिर ईरानी दफ्तर में गया। बहुत दौड़-धूप करनी पड़ी और अकेले ही। सात महीने तेहरान में रहने से भाषा की दिक्कत खतम हो गयी थी। तीन-तीन आफिसों में चक्कर लगाना पड़ा और जब १ बजे दिन को सही-सलामत कागज पर हस्ताक्षर हो गये, तो आफिस वालों ने कहा—"कौन्सल की मुहर काफी नहीं है। इस पर हस्ताक्षर भी करवा लाइए।" खैर उस दिन चार बजे तक सभी आफतों से छुट्टी पा जाने पर बड़ा संतोष हुआ। किराये से बचे हुए पैसे को रूस ले जाना बेकार था। रूस में खर्च करने के लिए सौ पौंड का चेक अलग था ही, इसलिए बाकी बचे रुपयों में चमड़े का ओवरकोट और दूसरी चीजें खरीदीं। अगले दिन (३१ मई) फिर कुछ और भी दफ्तरों की खाक छाननी पड़ी, जिनका काम दोपहर तक खतम हो गया।

हवाई जहाज एतवार (३ जून) को जानेवाला था, लेकिन सामान तुलवाना और दूसरे कामों को दो दिन पहले (१ जून को) ही खतम करवाना था। १६ किलोग्राम छोड़कर ५१ किलोग्राम सामान और मेरे पास था, जिसका ३२१ तुमान देना पड़ा। सामान में आधी ऐसी चीजें थीं, जिनको यदि मैं जानता होता तो साथ न लिये होता। विमान दो जून को ही जानेवाला था,

लेकिन पहली जून को चार बजे बतलाया गया कि मौसम खराब होने से कल विमान नहीं जा सकेगा। पचास-पचपन तुमान अब पास में रह गये थे, और एक दिन रहने का मतलब था उनमें से और खर्च करना; लेकिन मैंने तो घटा देखकर घड़ा फोड़ लिया था। २ तारीख को पूछने पर मालूम हुआ कि कल का जाना नक्की (पक्का) है। भारतीय संगीत के परिचय के लिए मैं अपने साथ कुछ रेकार्ड लेकर चला था, लेकिन उन्हें क्वेटा में रोक दिया गया। तेहरान में युद्ध के समय बहुत से भारतीय थे, जिनमें कुछ का मुझसे परिचय हो गया था, इसलिए दो रिकार्ड भी मिल गये।

प्रयाण—३ जून को भिनसार आया। अभी अँधेरा ही था कि पौने चार बजे इन्तूरिस्त की मोटर मेरे पास आयी। घर से सामान उठाकर अब्बासी महाशय ने मोटर तक पहुँचाया। अब्बासी से सात महीने का परिचय था, और बोस उपनाम अब्बासी नामक साहसी तरुण के गुण और अवगुण सभी मुझे मालूम हो गये थे। मुझे अवगुणों से अधिक उनमें गुण दिखायी पड़े, इसलिए बिछुड़ते वक्त दोनों को अफसोस हुआ। वैमानिक अड्डा शहर से दूर था, जहाँ हम चार-साढ़े चार बजे पहुँचे। एजेन्सी की ओर से चाय पीने को मिली। फिर सामान विमान पर रखा गया। वह यात्रा का विमान नहीं था। फौजी विमान ऐसे बनाये जाते हैं, जिनमें वे आदमी और सामान दोनों को आसानी से ढो सकें। यह मेरी पहली विमान यात्रा थी, जिसके बारे में बहुत-सी अच्छी-बुरी बातें सुन रखी थीं। विमान में दोनों ओर दीवार के सहारे लकड़ी के बेंच रखे हुए थे, जिन पर हम पन्द्रह मुसाफिर जा बैठे। घबराहट की क्या बात है? कान फटा जा रहा था। हमारी बगल में शीशे लगी खिड़की थी, जिससे भूतल को देखा जा सकता था। यद्यपि विमान में तीस आदमियों

की जगह थी, लेकिन जब यात्री को इतनी तपस्या के बाद बीजा मिले, तो जगह कैसे भरती ? अधिक मुसाफिर मास्को के विदेशी दूतावासों के कर्मचारी थे। उनके पास सामान भी काफी था, इसलिए मैं समझता हूँ, विमान ने अपना पूरा बोझा ले लिया था। गोलाकार छत बीच में मेरे सिर से एक हाथ ऊँची थी। मुझे तो विमान, सोवियत की सादगी का प्रतीक मालूम हुआ। सीटों और पैरों के नीचे बिछी कालीन भी न होती तो कोई बात नहीं। लेकिन जो विदेशी यात्री चल रहे थे, वह इस बे-सरोसामानी पर नाक-भौंह सिकोड़ रहे थे। चढ़ाने से पहले इन्तूरिस्त के आदमी ने हमारा पासपोर्ट देख लिया—कहीं कोई उसे भूल न आया हो। सबेरे पाँच बजकर दस मिनट पर विमान अपने तीनों पहियों पर खिसकते गनगनाहट के साथ धरती छोड़ने लगा। पहले तो वैसे ही मालूम हुआ, जैसे तरंगित समुद्र पर जहाज का चढ़ना-उतरना। हिमालय से जैसे नीचे दूर के खेत दीखते हैं, वैसे ही यहाँ भी नीचे कहीं-कहीं खेत थे। लेकिन हिमालय तो हरा-भरा है, ईरानी पहाड़ नंगे हैं, भूमि भी नंगी है। मनुष्यों ने कहीं-कहीं परिश्रम से नहर लाकर खेतों को हरा-भरा किया है। उन्हीं के पास घरौंदों जैसे छोटे-छोटे गाँव दिखायी पड़ते थे। शायद यह विमान अमेरिका का बना था, क्योंकि इसमें सारे संकेत अँगरेजी में थे। लड़ाई के वक्त सामान और सैनिकों की ढुलाई करता रहा होगा।

विमान उड़ रहा था। अब वह काकेशस की पर्वत-श्रृंखला की ओर अग्रसर हो रहा था, इसलिए ऊपर चढ़ने लगा, यद्यपि रुक-रुक कर ही। कहीं-कहीं नदियाँ मिलीं, जो छोटी-छोटी नालियों-सी मालूम होती थीं। पर्वत तो तालाबों के भिंडे जैसे दिखायी देते थे। कानों में इंजन की घोर घनघनाहट सुनायी दे

रही थी। और कोई दिक्कत नहीं थी। हमारी सह-यात्रिणी एक महिला के कानों से खून भी निकला; दूसरी के पेट में दर्द हुआ। पता लगा समुद्र-रोग की भाँति आकाश-रोग नाम की भी कोई चीज है, किन्तु अधिकांश यात्री ऊँघ रहे थे। उसी तरह एक दूसरे के कंधे और शरीर की परवाह किये बिना, जैसे भारत की रेलों के तीसरे दरजे के यात्री। मौत का ख्याल क्यों आने लगा? विमान से मौत तो योगियों की मौत होती है—मौत के बारे में सोचने भर का भी तो समय नहीं मिलता।

विमान बहुत ऊपर उठ चुका था। जमीन से सटे कहीं-कहीं घरौंदों से गाँव आ जाते थे। हमसे काफी, नीचे उल्टी गति से कुछ बादल तैर रहे थे। विमान की पूँछ की ओर मूत्रस्थान बनाया गया था। यात्रियों में अँग्रेज, अमेरिकन और रूसी ही अधिक थे; एशिया या भारत का प्रतिनिधित्व मैं अकेला कर रहा था।

बादल कम थे। कहीं-कहीं तो वे हिमक्षेत्र से मालूम होते थे। मैं मानव की शक्ति पर कभी आश्चर्य करता और कभी शीशे की ओर से बाहर देखने की कोशिश करता। जब विमान ऊपर नीचे की ओर अधिक गति से चढ़ता-उतरता, तो पेट ही नहीं कलेजा भी हिलता-सा मालूम होता। जून का आरम्भ उत्तरी गोलार्द्ध में सरदी का समय तो नहीं है, लेकिन हम दस हजार फुट की ऊँचाई पर उड़ रहे थे, इसलिए सरदी क्यों न जोर करती। वैसे हमने गरम कपड़े पहन रखे थे। कहीं-कहीं बादलों के भीतर से पहाड़ों का दृश्य बहुत ही सुन्दर मालूम होता था। वही स्थान देर तक हमारे सामने रहता था, जिससे मालूम होता था कि विमान बहुत धीमी गति से चल रहा या ठहरा हुआ है।

६ बज रहा था जबकि हम कास्पियन समुद्र के ऊपर पहुँचे।

कास्पियन ग्रीक ऐतिहासिकों के काल से इसी नाम से मशहूर है, यद्यपि इस्लामिक देशों में इसे खिज्र-समुद्र कहा जाता है। ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी में इसके पश्चिमी तट के स्वामी हूणवंशी खाजार (काजार) लोग थे, जिन्हीं के कारण अरबों ने इस समुद्र का नाम बहरे-खाजार रखा, जिसको लालबुझक्कड़ों ने खाजार जाति से हटाकर खिज्र देवदूत के साथ जोड़ दिया। समुद्र के नीले जल पर हमारे नीचे जहाँ-तहाँ बादल की फुट-कियाँ दिखायी पड़ीं। बायीं ओर हिमाच्छादित काकेशस पर्वत-माला दूर तक चली गयी थी। दाहिनी ओर दूर तक समुद्र ही समुद्र दिखलायी पड़ रहा था। विमान तट के पास से चल रहा था। समुद्रतल समतल-सा था, जिस पर लहरें गज-चर्म की रेखा-जैसी देख पड़ रही थीं। पौने आठ बजे बाकूनगर और उसके पास मीलों तक तेल-कूपों के ढाँचों का जंगल दिखलायी पड़ रहा था। आठ बजने में दस मिनट रह गये थे, जब हम बाकू के बाहर विमान-भूमि में पहुँचे। विमान-भूमि बिलकुल कच्ची थी। सोवियतवाले जानते हैं कि जब तक बिना श्रम और पैसे के खर्च किये काम चल सकता है, तब तक, विशेषकर लड़ाई के समय, अड्डे पर लाखों मन सीमेन्ट डालने से क्या फायदा ? विमान जमीन पर उतरा। यहाँ विमान बदलनेवाला था। हमारा सब सामान कस्टम कार्यालय में गया। सामान की बहुत छानबीन नहीं की गयी। फिर चार रुबल में एक प्याला चाय और दो टुकड़े रोटी के खाने को मिले।

दस बज कर पाँच मिनट पर हम फिर जहाज से उड़े। बाकू के घरौंदों और तेल-कूप की झाड़ियों को पीछे छोड़ा। पहले कितनी ही देर तक कास्पियन के पश्चिमी किनारे पर ही उड़ते रहे, फिर बोल्गा के दाहिने तट पर आ गये। यहाँ भी भूमि

बहुत जगह गैर-आबाद थी। यह वही भूमि थी, जिसने जर्मन सेनाओं की विनाश-लीला को थोड़े ही समय पहले देखा था। अब कहीं-कहीं हरे-हरे पंचायती खेत और उनके सुविशाल चक दिखायी पड़ने लगे। ढाई बजे हम स्तालिनग्राद पहुँचे।

स्तालिनग्राद—स्तालिनग्राद सारे विश्व के लिए एक पुनीत ऐतिहासिक स्थान है। सारे विश्व पर जर्मन जाति के विजयी झंडे के साथ दासता के झंडे को भी गाड़ने के लिए आगे बढ़े, अपराजेय समझे जानेवाले जर्मन फासिस्तों को यहीं पर सबसे पहले करारी हार खानी पड़ी थी। ऐसी जबरदस्त हार कि उसके बाद फिर जो वे पीछे की ओर भागने लगे, तो कहीं भी सुस्ताने के लिए उन्हें मौका नहीं मिला। स्तालिनग्राद में देखने को क्या था? उसकी तो ईंट से ईंट बज गयी थी। जर्मनों को पराजित हुए एक महीना भी नहीं बीता था। अभी वस्तुतः नगर के आबाद करने का काम नहीं हो रहा था। हाँ, नगर-निर्माताओं के आबाद करने की तैयारी हो चुकी थी। अधिकांश घर धराशायी थे, किसी-किसी के कंकाल कुछ-कुछ दिखायी पड़ते थे। दूर तक हजारों ध्वस्त मोटरों और विमानों का ढेर लगा हुआ था। प्रायः सभी जर्मन विमान थे। एक विमान की दुम कट कर अलग पड़ी हुई थी, जिसे देखकर वह दृश्य सामने आ खड़ा हुआ, जब कि यह विमान अपने और बहुत से साथियों के साथ स्तालिनग्राद पर मृत्यु-वर्षा कर रहा था। उसी वक्त किसी साहसी सोवियत वैमानिक ने उनमें से एक की दुम तराश कर उसे नीचे गिरने के लिए मजबूर किया। स्तालिनग्राद में भी हमारे विमान के उतरने की भूमि कच्ची थी, आस-पास खूब घास की हरियाली अतः भूमि सरस थी, यह उसका वानस्पतिक वैभव बतला रहा था। यहाँ कहीं पर्वत नहीं थे।

कहीं-कहीं एकाध कारखाने आहत और सुस्त से पड़े थे, उनकी चिमनियाँ मृत थीं। केवल एक बड़ी फैक्ट्री की चिमनी धुआँ दे रही थी, जो आंशिक तौर से चालू हो गयी थी। पास में दूसरा बड़ा कारखाना निष्क्रिय पड़ा था। नगर बसानेवालों ने छोटे घरों में थोड़ी-सी मरम्मत करके आश्रय ग्रहण किया था। हम यात्रियों ने भोजन किया; कुछ इधर-उधर घूम-फिर कर देख भी आये। अभी सैलानियों के सैर करने का बाकायदा इन्तिजाम कहाँ हो सकता था? लेकिन स्तालिनग्राद की अजेय भूमि पर पैर रख के यह कैसे हो सकता था कि मैं कल्पना-जगत् में न चला जाऊँ। सोवियत-भूमि एक ऐसी भूमि है जिसके बारे में दुनिया में दो ही पक्ष हैं—या तो उसके समर्थक या प्रशंसक हों, या उसके कट्टर शत्रु। मध्य का रास्ता कोई अत्यन्त मूढ़ ही पकड़ सकता है। मैं सदा सोवियत का प्रशंसक रहा हूँ, बल्कि कह सकता हूँ कि जिस वक्त घोर निद्रा के बाद अभी मुझे जरा ही जरा अपनी राजनीतिक आँखें खोलने का अवसर मिला, उसी समय मुझे विरोधियों के घनघोर प्रचार के भीतर से रूसी क्रांति की खबरें सुनायी पड़ीं, जिन्होंने मेरे दिल में नये प्रकाश को देखकर इस भूमि के प्रति इतना आकर्षण पैदा कर दिया, या कहिए, दिल को इतना छीन लिया कि मुझे इस जबरदस्ती का कभी अफसोस नहीं हुआ। मैं वर्षों उस भूमि में रहा हूँ। वहाँ के लोगों और सरकार को बहुत नजदीक से देखा है। कड़वे-मीठे सभी तरह के अनुभव किये हैं। गुणों को जानता हूँ, साथ-साथ उनके दोषों से भी अपरिचित नहीं हूँ। लेकिन मैंने उन दोषों का पाया कभी इतना भारी नहीं पाया। सोवियत भूमि के प्रति जो अनुराग या आशाएँ मानवता के लिए मैंने बाँधीं, उनमें किसी तरह की बाधा नहीं हुई। इतिहास मानता है और सदा माना

जायगा कि मानवता की प्रगति में एक सबसे बड़ी बाधक शक्ति हिटलरी फासिज्म के रूप में पैदा हुई थी, उसको नष्ट करने का सबसे अधिक श्रेय सोवियत की जनता को है। आज (१९५१) छः वर्ष बाद भी मानवता की प्रगति के रास्ते में फिर जबर्दस्त बाधाएँ डाली जा रही हैं; लेकिन साथ ही मानवता बहुत आगे बढ़ चुकी है, बहुत सबल हो चुकी है। उस समय जर्मन-पराजय के बाद स्तालिनग्राद में घूमते हुए मेरे मन में तरह-तरह की कल्पनाएँ आयीं थीं। इस महान् विजय के बाद साम्यवाद के क्षेत्र के बढ़ने की पूरी संभावना थी। आज हम स्वतंत्र चीन का नव निर्माण देख रहे हैं और उसकी प्रगति के वेग को देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। लेकिन क्या स्तालिनग्राद ने अगर अपने कृतित्व को न दिखलाया होता, तो ऐसा हो सकता था ?

मास्को को—पन्द्रह बजकर बीस मिनट पर हम फिर उड़े। कास्पियन के किनारे से यहाँ तक प्रायः बोल्गा को हम अपना मार्गप्रदर्शक बनाकर आये थे, लेकिन अब हमारा पुष्पक विमान बायीं ओर मुड़ा। नीचे गाँवों के विशाल खेत शतरंज-जैसे फैले हुए थे। कहीं-कहीं रास्ते में बादल आ जाते तो विमान उनके ऊपर से होकर चलने की कोशिश करता और कुछ समय के लिए भूमि का सुन्दर दृश्य आँखों से ओझल हो जाता। पाँच बजे के बाद अब हम ऐसी भूमि में आये, जहाँ देवदार के जंगल दिखायी पड़ते थे। मालूम होता था, धान के हरे-हरे खेत हैं। काकेशस की बड़ी-बड़ी पहाड़ियाँ यदि छोटे भिडों-जैसी मालूम होती थीं, तो यहाँ की छोटी-छोटी पहाड़ियों के बारे में तो कहना ही क्या है। गाँवों के घर अब लम्बे राजपथ के किनारे पाँति से बसे दिखायी पड़ रहे थे। राजपथ काफी चौड़े भी होंगे, किंतु हमें

ऊपर से सरल रेखा जैसे ही मालूम होते थे। बड़े-बड़े जलाशय छोटे-छोटे डबरों-जैसे देख पड़ रहे थे। हाल ही में जुते और फसलवाले खेत रंग से साफ मालूम होते थे। नदियाँ सर्पाकार देख पड़ रही थीं। नीचे रेल की चलती ट्रेन मालूम होती थी कोई बड़ा साँप जा रहा है। एक जगह कुछ दूर तक बादल में चलना पड़ा। हमारे विमान के पङ्ख पर कुछ छीटें भी पड़ीं। जगह-जगह बड़े-बड़े कसबे आये। देवदार के जंगल और घने हुए। सात बजकर पाँच मिनट पर शाम के वक्त हम मास्को के विमान-अड्डे पर पहुँच गये। शहर पार होते भी पाँच-सात मिनट लगे थे। मास्को के विशाल प्रासाद भी पहिले घरौंदे-जैसे ही मालूम हुए, किन्तु जैसे-जैसे विमान नीचे उतरा, वैसे-वैसे उनकी सुन्दरता और विशालता बढ़ती गयी।

आज की उड़ान में तेहरान से बाकू २-४० घण्टे, बाकू से स्तालिनग्राद ४-५५ घण्टे, स्तालिनग्राद से मास्को ३-४५ घण्टे अर्थात् कुल १०-५० घण्टे हुए। विमान बाकू में २-१५ घण्टा और स्तालिनग्राद में ५० मिनट ठहरा।

विमान के अड्डे पर उतरते वक्त आशा थी कि तेहरान से इन्तूरिस्त ने लिख दिया होगा, इसलिए मास्को में उसका आदमी लेने के लिए आया रहेगा; किन्तु यहाँ किसी का कोई पता नहीं था। भाषा की दिक्कत थी; क्योंकि दूसरी यात्रा में जो कुछ सीखा था, वह भी करीब-करीब भूला जा चुका था। तेहरान के निवास का उपयोग रूसी सीखने के लिए कर सकते थे; किन्तु वहाँ दुविधा में पड़े थे। किसी तरह सामान विश्रामगृह में पहुँचाया। इन्तूरिस्त के पास फोन करना चाहा, तो किसी को उसका पता नहीं था। वस्तुतः

युद्ध के कारण सैलानियों के लिए यात्रा की व्यवस्था करने का काम रह नहीं गया था, इसलिए पिछली दो यात्राओं में इन्तूरिस्त के जिस चुस्त प्रबन्ध को हमने देखा था, उसको इस वक्त नहीं पाया। बहुत पूछ-ताछ करने पर वहाँ किसी आदमी की प्राइवेट कार मिल गयी जिसके ड्राइवर ने दो सौ रूबल (प्रायः सवा सौ रुपये) में होटल तक पहुँचा देने का जिम्मा लिया। दो-एक जगह पूछ-ताछ करने पर अंत में इन्तूरिस्त के होटल में पहुँच गये। कमरा खाली नहीं है; अँगरेजी दूतावास में चले जाइये—कहा गया। उस समय भारतीय दूतावास नहीं था। अँग्रेजी दूतावास में किस परिचय के बल पर जा सकता था। खैर, जरा ठहरने पर एक कमरा मिल गया। चीजें बहुत महँगी थीं; किन्तु वही जो राशन में नहीं थीं। मैंने सोचा था, राजधानी के नर-नारियों पर युद्ध का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा होगा। लेकिन सड़कों पर भीड़ में मैंने किसी के शरीर पर फटे कपड़े नहीं देखे और न चेहरों पर चिन्ता की छाप ही थी। अपने बारे में सोचने लगा—सौ पौंड का चेक ले कर मैं आया हूँ, जिसमें आठ पौंड तो मोटर के ही निकल गये। चीजें जितनी महँगी थीं अगर अपने पौंडों के भरोसे रहना होता तो उनका क्या बनता ? रात को रहने के लिए जो कमरा मिला, वह बहुत साफ-सुथरा था। उसमें तीन बत्तियाँ थीं, शीशेदार आलमारी, दो चारपाइयाँ, तीन कुर्सियाँ, दो मेज, नीचे अच्छी कालीन बिछी हुई थी। हाँ, एक लिहाफ कुछ पुराना जरूर था। दीवार पर एक सुन्दर तस्वीर भी टँगी हुई थी। संक्षेप में स्वच्छता और आराम की कोई कमी नहीं थी। मैं अगले दिन (४ जून) स्त्रेला (शर) डाक से जाने का निश्चय करके आराम से सो गया।

अध्ययन

प्रसिद्ध यात्री और विद्वान् राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'रूस में पच्चीस मास' में से लिये हुए इस पाठ में उर्दू, अंग्रेजी-मिश्रित बोल-चाल की भाषा की सादगी और प्रवाह स्पष्ट दिखलायी देते हैं। यात्रा-वर्णन में जिस प्रकार की व्यापक दृष्टि, चित्रण-शक्ति और काल्पनिकता की आवश्यकता होती है, वह सब इसमें हैं। हमारे मित्र-राष्ट्र रूस की आंशिक झाँकी इस लेख का प्रमुख गुण है।

अगोरते=छानते, भटकते। **हिटलर**=जर्मनी का तानाशाह, द्वितीय महायुद्ध में जिसकी योरप के विभिन्न देशों की दो-दो, चार-चार दिनों में होने वाली विजयों ने तहलका मचा दिया था। **डाक्टर गोयबल्स**=हिटलर के मुख्य सहायकों में से एक, जर्मनी का प्रचारमंत्री। **तर्जुमा**=अनुवाद। **भिनसार**=प्रातःकाल। **बेसरोसामानी**=सामग्री-रहित होना। **बीजा**=किसी देश की सीमा में प्रवेश करने का अधिकार-पत्र। **पासपोर्ट**=अपने देश से बाहर जाने का अधिकार-पत्र। **घटा देखकर घड़ा फोड़ लिया था**=बादल देखकर घड़ा फोड़ डाला, अर्थात् किसी लाभ की सम्भावना समझकर अपने पास की वस्तु नष्ट कर दी। **कस्टम**=चुंगी। **दोषों का पाया कभी इतना भारी नहीं पाया**=दोष मुझे कभी इतने अधिक वजनदार (भारी) नहीं मालूम हुए।

प्रश्न

१—राहुल जी को ईरान में रूस का बीजा लेने में क्या-क्या कठि-नाइयाँ हुईं ?

२—रूस के सम्बन्ध में लेखक का क्या मत है ? आप उससे कहाँ तक सहमत हैं ?

३—राहुलजी की गद्य-शैली की आलोचना कीजिए।

सिस्तर का वास्ते

[*महादेवी वर्मा*]

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख, एक ही साँचे में ढले से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करनेवाली वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न-जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नहीं दिखायी देता। कुछ तिरछी, अध-खुली और विरल भूरी बरोंनियों वाली आँखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीर कर बनायी गयी हैं। उनका स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण चिह्नों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौंहें सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार-प्रकार, वेश-भूषा सब मिल कर इन दूर-देशियों को यन्त्र-चालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं। इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरीवाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमामयी आँखों के साथ स्मरण आता है जिसकी मौन भंगिमा कहती है—हम कार्बन की कापियाँ नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं तो तुम पढ़ कर देखो न !

कई वर्ष पहले की बात है। मैं ताँगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपड़े का गट्ठर बायें कंधे के सहारे पीठ पर लटकाये हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे

घर को वन्द पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साब'—दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं; पर यह विजातीय सम्वोधन मानों सारा परिचय छीन कर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न लौटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया—'मैं विदेशी—फारेन—नहीं खरीदती।' 'हम फारेन हैं?' 'हम तो चायना से आता हैं' कहनेवाले के कंठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुककर, उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पैजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामे, और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढँके, दाढ़ी-मूँछ-विहीन दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुँची, यह सोच कर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया—'मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई!' चीनी भी विचित्र निकला। 'हमको भाय वोला है तब जरूल लेगा, जरूल लेगा—हाँ!' होम करते हाथ जला वाली कहावत हो गयी। विवश कहना पड़ा—'देखूँ, तुम्हारे पास है क्या?' चीनी वरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कह चला—"भोत अच्छा सिल्क

लाता है सिस्तर। चाइना सिल्क, क्रेप...।" बहुत कहने-सुनने के उपरांत दो मेजपोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा, चलो छुट्टी हुई। इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठकर गज को फर्श पर बजा-बजा कर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा—"अब तो मैं कुछ न लूँगी। समझे?" चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला—"सिस्तर का वास्ते हैकी लाता है—भोत वेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है।"

देखा कुछ रूमाल थे। ऊदे रंग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हें फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी चीनी नारी की कोमल उँगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी, जीवन के अभाव की कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृत आँखों को जल्दी-जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक सांस में "सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है" दोहराने-तिहराने लगा।

मन में सोचा, अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कहकर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा, उस चिढ़ाने में कोई तत्त्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहिन का संबंध क्यों जोड़ने आता? पर उस दिन से चीनी को मेरे यहाँ जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के संबंध में विशेष अभिरुचि रखता

है, इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बाँध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहाँ की मिट्टी का हर कण भी उन्हीं रंगों से रँगा हुआ न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही "सिस्तर का वास्ते हम चलेगा" कहते-कहते चीनी की आँखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था; पर कहने-सुनने वाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और वर्मी भाषाएँ आती थीं, जिनके संबंध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ मैं 'आँखों के अंधे, नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञाएँ और हिन्दुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी, उसमें कथा का सारा मर्म बँध नहीं पाता था। पर जो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़कर दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं, वे प्रायः करुण होती हैं और करुण की भाषा शब्दहीन रहकर भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरी-वाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता-पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दूकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर

और सात वर्ष की बहिन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी उस अनदेखी मा के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

संभवतः मा ही ऐसा प्राणी है, जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके संबंध में कुछ जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बाँधनेवाला विधाता मा ही है, इसी से उसे न मान कर संसार को न मानना सहज है; पर संसार को मानकर उसे न मानना असंभव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया, तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरंभ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका; क्योंकि उसके पाँचवें वर्ष में पैर रखते-न-रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया; पर बहिन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर वैमनस्य बढ़ रहा था। वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट देकर भी चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहिन की कंपित उँगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आँसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी-सी गोद में सिमटकर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सबेरे आँख मूँदकर बंद द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहिन की ओर से गीले बालों में, अपनी ठिठुरी हुई उँगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहिन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक

आनेवाले आँसू की बड़ी बूँद देखकर वह घबराकर बोल उठा था—उसे कहवा नहीं चाहिए; वह तो पिता को देखना भी चाहता है।

कई बार पड़ोसियों के यहाँ रकाबियाँ धोकर और काम के बदले भात माँगकर बहिन ने भाई को खिलाया था। वह बार-बार सोचता था कि पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृति-पट पर मा की कोई रेखा नहीं, परन्तु पिता का जो स्पष्ट चित्र अंकित था, उससे उनके स्नेहशील होने में संदेह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुँच और उसी तरह उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा। तब यह विमाता कितनी डर जायगी और बहिन कितनी प्रसन्न होगी।

चाय की दूकान का मालिक दूसरा था; परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसी से बालक एक कोने में सिकुड़कर खड़ा हो गया और आनेवालों से हकला-हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये; पर दो-एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही, जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दंड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अंत हुआ।

पर एक दिन बहिन बाहर गयी तो लौटी ही नहीं। सबेरे विमाता को कुछ चिंतित भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहिन—उसकी एकमात्र आधार बहिन। पिता का पता न पा सका और अब बहिन भी

खो गयी। वह जैसा था वैसा ही बहिन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता, उसी के पास पहुँचने के लिए सड़क की एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकरा कर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता—क्या इतना जरा-सा लड़का भी पागल हो गया है।

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरंभ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊँची कर खड़ा होना, मुँह पर पंजे रखकर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाकू के धुएँ और दुर्गन्धित साँस से भरे और फटे चिथड़े, टूटे बर्तन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे में बन्द कर कुछ विशेष संकेतों और हँसने-रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हँसने-रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता। पर क्रन्दन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि जरा मुँह बनाते ही दोनों आँखों से दो गोल-गोल बूँदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं, और पहली समानान्तर रेखा बनाती और मुँह के दोनों सिरों को छूती हुई टुड्ढी के नीचे तक चली जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझ कर रोओं से काले उदर पर पीला-सा रंग बाँधनेवाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछल कर उसे एक लात जमाकर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी, स्यामी आदि का सम्मिश्रण था, इसीसे

'चोरों की बरात में अपनी-अपनी होशियारी' के सिद्धान्त का पालन बड़ी सतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे, उनके विरोधियों का संदेहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्त्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर संदेह की ऐसी दृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान काँपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी, उसका स्मरण करके चीनी की आँखें आज भी व्यथा और अपमान से धकधक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े-मेढ़े बर्तन में, सिगार से जगह-जगह जले हुए कागज से ढक कर रख दिया जाता था, जिसे वह हरी आँखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गये तक उसके नरक के साथी एक-एक कर आते रहते और अँगीठी के पास सिकुड़ कर लेटे हुए बालक को ठुक-राते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी-जल्दी रखता हुआ आता है, उसे बहुत कुछ मिल गया है; जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है वह खाली हाथ है; जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है, वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है; जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैर रखता हुआ घुसता है, उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षान्त संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके

जीवन की दिशा को इस प्रकार वदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बाँधते-बाँधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज से इस तरह नापना कि जौ बराबर भी आगे न बढ़े, चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक को खूब देख-भाल कर लेना और लौटाते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका-खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अँगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की व्यवस्था जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याएँ एक-सी हैं; पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपाकर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहिन को ढूँढ़ने का बहुत प्रयत्न किया; पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी-कभी वे निराश होकर आत्महत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी संभवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गयी थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बंद हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया। फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला। यहाँ शहर में एक चीनी

जूतेवाले के घर ठहरा है और सवेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छाएँ हैं, ईमानदार बनने की और बहिन को ढूँढ़ लेने की—जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच-बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था; पर लौटते ही, 'सिस्तर का वास्ते ई लाता हैं' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार उसे देखते-देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कह कर और शब्दों की खोज करने लगा, तब मैं उसकी कठिनाई न समझ कर हँस पड़ी। धीरे-धीरे पता चला—बुलावा आया है, वह लड़ने के लिए चाइना जायगा। इतनी जल्दी कपड़े कहाँ बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुँचा कर बेईमान कैसे बने। यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूँ तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था—आज भी संकोच से हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिए प्रश्न किया—"तुम्हारे तो कोई है ही नहीं, फिर बुलावा किसने भेजा?" चीनी की आँखें विस्मय से भरकर पूरी खुल गयीं—"हम कब बोला हमारा चाइना नहीं है? हम कब ऐसा बोला सिस्तर?" मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आयी। उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा!

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है। अधिक रुपये की चर्चा ही क्या, पर कुछ अपने पास खोज-ढूँढ़-कर और कुछ दूसरों

से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। मुझे अंतिम अभिवादन कर जब वह चंचल पैरों से जाने लगा, तब मैंने पुकार कर कहा—'यह गज तो लेते जाओ'—चीनी सहज स्मृति के साथ घूमकर 'सिस्तर का वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गये।

और आज कई वर्ष हो चुके हैं—चीनी को फिर देखने की संभावना नहीं। उसकी बहिन से मेरा कोई परिचय नहीं; पर न जाने क्यों वे दोनों भाई-बहिन मेरे लिए स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी की गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुर्ते बना-बनाकर खर्च कर चुकी हूँ, परन्तु अब भी तीन थान मेरी आलमारी में रखे हैं और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर खादी-भक्त बहिन ने आक्षेप किया था—"जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं वे भी विदेशी रेशम के थान खरीद कर रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती।" तब मैं बड़े कष्ट से हँसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखियारा मातृ-पितृ-हीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुँचने का आत्म-तोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं—पर मेरा मन यही कहता है।

अध्ययन

श्रीमती महादेवी वर्मा का शुद्ध सुसंस्कृत भाषा में लिखा हुआ यह संस्मरण हमारे पड़ोसी चीनियों में एक का ही चित्रण नहीं करता वरन् वह भारतीय और चीनी स्वभाव का ही चित्र अंकित कर देता है। यों तो

महादेवीजी के इस प्रकार के सभी संस्मरण बड़े मर्मस्पर्शी हैं, परन्तु अपने इस गुण में यह अग्रगण्य है।

आर्द्र=गीली, अश्रुमय। मांडले=बर्मा का प्रसिद्ध नगर। पारंगत=चतुर। उच्छिष्ट=जूठन। दीक्षान्त=शिक्षा की समाप्ति।

प्रश्न

१—श्रीमती महादेवी वर्मा की गद्य-शैली की विशेषताएँ वतलाइए।

२—'सिस्तर का वास्ते' संस्मरण पढकर आपके मन में क्या भाव उत्पन्न होते हैं ?

हिन्दी में हास्य की कमी

[डॉक्टर नगेन्द्र]

(एक संवाद)

नगेन्द्र—आइये प्रो० साहब, नमस्ते !

प्रो०—नमस्ते, नगेन्द्रजी ! कहिए, क्या हो रहा है ?

नगेन्द्र—कुछ नहीं—हास्य पर फ्रांसीसी लेखक बर्गसाँ की यह पुस्तक पढ़ रहा था ।

इन फ्रांसीसी लेखकों की दृष्टि कितनी पैनी और साफ होती है। मैं समझता हूँ, साहित्यिक हास्य का ऐसा निर्मल विवेचन और किसी दार्शनिक या आलोचक ने नहीं किया।

प्रो०—वास्तव में फ्रांस का आलोचना-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है । अच्छा क्या कहते हैं आपके बर्गसाँ ?

नगेन्द्र—बर्गसाँ ने हास्य को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया । उन्होंने 'हम क्यों हँसते हैं ?' इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा करते हुए हास्य की परिस्थिति और प्रकृति का विश्लेषण किया है। उनके कुछ निष्कर्ष अत्यन्त रोचक और सटीक हैं—उदाहरण के लिए (१) हास्य सर्वथा मानवीय वृत्ति है । मानव-जीवन से बाहर उसकी गति नहीं है । (२) हास्य के लिए भावुकता और उद्वेग का सर्वथा अभाव अनिवार्य है—हास्य और भावुकता एक दूसरे के शत्रु हैं । (३) हास्य एक सामाजिक वृत्ति है—किसी प्रकार की भी असामाजिकता हास्य को जन्म दे सकती है—इत्यादि । इस विवेचन के फलस्वरूप वास्तव में बर्गसाँ भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जिस पर विदेश के अन्य आलोचक पहुँचते हैं ।

प्रो०—अर्थात् !

नगेन्द्र—अर्थात् हास्य की मूल आत्मा असंगति है।

प्रो०—यह तो हमारे आचार्यों का भी मत है। उनके अनुसार विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार वे विकृति को हास्य का मूल तत्त्व मानते हैं, और यह विकृति आपकी असंगति ही तो है। वेश, आकार आदि की हमारे मन में जो धारणा बनी हुई है उसमें, और किसी व्यक्ति या वस्तु के वेश, आकार आदि में, असंगति देखकर हमारे मन में गुदगुदी पैदा हो जाती है। यही बात वाणी, व्यवहार आदि सूक्ष्मतर वस्तुओं के लिए भी कही जा सकती है।

नगेन्द्र—हाँ, खींचतान कर बात तो ठीक बैठ जाती है। पर प्रोफेसर साहब, हमारे यहाँ हास्य रस का कितना अभाव है। विशेषकर हिन्दी में तो उसका घोर दुष्काल है। मैं प्रायः सोचता हूँ कि इसका क्या कारण है ? हमारा साहित्य काफी समृद्ध है; परन्तु हास्य एक तो है ही बहुत कम, और जो है भी वह बड़ा स्थूल है।

प्रो०—नगेन्द्रजी, इसमें कुछ तो लोगों का प्रोपेगंडा भी है। हिन्दी का सभी हास्य स्थूल नहीं है। उदाहरण के लिए सूर में जितना सूक्ष्म हास्य है, उतना आपके अच्छे-अच्छे हास्य-लेखकों में भी नहीं मिलेगा। पर इसमें संदेह नहीं कि हमारे यहाँ उत्कृष्ट हास्य का अत्यंत अभाव है। पुराने कवि पुरस्कार-दाताओं की कृपणता आदि का मजाक उड़ाकर या फिर हास्य-रस के उदाहरण-स्वरूप कुछ निर्जीव छंद लिखकर अपना कर्त्तव्य पूरा कर बैठे हैं।

नगेन्द्र—बात तो आपकी ठीक है। वास्तव में जो थोड़ा बहुत हास्य हमारे यहाँ है भी, वह अत्यन्त कृत्रिम है। स्वस्थ जीवन का सहज प्रोद्भास न होकर ऐसा मालूम पड़ता है कि

वह दूसरों को हँसाने के उद्देश्य से लिखा गया है। योरप में व्यंग्य, वक्रोक्ति, विदग्धता और हास्य चारों में सूक्ष्म किंतु स्पष्ट अंतर माना गया है—हास्य शेष तीनों से अपनी निर्मलता के कारण पृथक् है। व्यंग्य सदा सोद्देश्य होता है—उपहास के द्वारा ताड़ना उसका अभिप्राय होता है। वक्रोक्ति में चुभने वाली कटुता होती है, विदग्धता बुद्धि के चमत्कार पर आश्रित रहती है; परन्तु हास्य स्वस्थ मन का सहज उच्छलन होता है—उद्देश्य, कटुता आदि से पूर्णतः मुक्त। हिन्दी में इन चारों को उलझा दिया गया है। हास्य के अन्तर्गत ये सभी खप जाते हैं। वैसे हिन्दी में हास्य के नाम पर प्रायः व्यंग्य ही अधिक चलता है। हँसने का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की सुधार-भावना लिये रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म-चेता लेखकों ने वक्रोक्ति का भी सुन्दर प्रयोग किया है; परन्तु जिसे हास्य, निर्मल और शुद्ध कहा गया है उसके तो शायद दो-चार उदाहरण ही ढूंढ़ने को मिलें। मैं प्रायः सोचा करता हूँ कि हास्य का यह दुष्काल क्यों है। आखिर इसका कारण क्या है?

प्रो०—कारण स्पष्ट है। हिन्दी को उत्तराधिकार में जो साहित्यिक परम्पराएँ मिली हैं, उनमें ही हास्य का दैन्य रहा है। हिन्दी ने अपनी सब साहित्यिक परम्पराएँ संस्कृत से प्राप्त की हैं और संस्कृत में स्वयं हास्य का अभाव है। संस्कृत-साहित्य शास्त्र में हास्य को हीनतर रसों में माना गया है। शृंगार, करुण, वीर और शांत को जो महत्त्व मिला है उसका एक अंश भी हास्य को नहीं मिला। गम्भीर कवियों ने तो उसको स्पर्श ही नहीं किया—और जिन्होंने किया भी है उनका हास्य सर्वथा रूढ़ और स्थूल है। कालिदास जैसे परिष्कृत रुचि और

सूक्ष्मचेता कवि का हास्य भी इसी कोटि का है। शाकुन्तलम् जैसे नाटक का विदूषक भी भोजन अथवा भीरुता आदि की बातें कहकर हँसने-हँसाने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भिक नाटकों में तब भी हास्य का थोड़ा-बहुत स्पर्श था—बाद में वह भी लुप्त हो गया! संस्कृत के उत्तर-काल में आकर अलंकार की जकड़बन्दी और श्रृंगार के नग्न नृत्य के बीच साहित्य के अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व और रस भी तिरोहित हो गये—हास्य तो पहले से ही उपेक्षित था। साहित्य के विकास का प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही क्रम रहा। हिन्दी-साहित्य का विकास सीधा इसी परम्परा से हुआ, अतएव उसमें हास्य का जन्म से ही अभाव रहा।

नगेन्द्र—लेकिन संस्कृत में भी हास्य का ऐसा अभाव क्यों है—इसका भी तो कारण होना चाहिए। आपके कहने का शायद तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य-परम्पराएँ हास्य के अनुकूल नहीं हैं! पर क्यों?

प्रो०—प्रत्येक देश और जाति की अपनी प्रकृति और प्रतिभा होती है। भारतीय प्रकृति और प्रतिभा स्वभाव से गम्भीर है।

नगेन्द्र—नहीं साहब, यह भी स्वयं कार्य है, कारण नहीं है। कारण ढूँढ़ने के लिए हमें भारतीय जीवन-दर्शन का विश्लेषण करना पड़ेगा। भारतीय दृष्टि सदैव भेद में अभेद देखती रही है। द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य रहा है। यों तो समय-समय पर यहाँ अनेक दर्शनों की सृष्टि हुई है जो एक दूसरे के विरोधी रहे हैं, फिर भी गहरे में जाकर देखने से अद्वैत-भावना प्रायः सभी में मूलरूप से अनुस्यूत मिलती है। वास्तव में अनेकता में एकता की प्रतीति, भेद में अभेद की प्रतीति के बिना पूर्ण आस्तिकता की स्थिति संभव नहीं

है; परन्तु आप देखेंगे कि यह जीवन-दृष्टि हास्य के एकान्त प्रतिकूल पड़ती है। हास्य के लिए भेद-प्रतीति अनिवार्य है। अभी मैंने विदेश के आचार्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि वे प्रायः सभी असंगति को हास्य की आत्मा मानते हैं और आपने संस्कृत आचार्यों का मत देते हुए विकृत को हास्य का मूलतत्त्व माना है। ये दोनों ही भेद की अपेक्षा करते हैं। असंगति के लिए औचित्य और अनौचित्य का भेद अनिवार्य है और विकृति के लिए कृति और उसके विकार का। कहने का तात्पर्य यह है कि हास्य की उद्‌बुद्धि के लिए असंगति अथवा भेद की सूक्ष्म और तीव्र चेतना अनिवार्य है और चूंकि भारतीय प्रतिभा अपने दार्शनिक संस्कारों के कारण अभेद द्रष्टा रही है, इसलिए वह हास्य के अधिक अनुकूल नहीं पड़ी।

प्रो०—हाँ, भारतीय जीवन दृष्टि सदा से ही गंभीर रही है, हास्य उसके अनुकूल कम ही पड़ा है।

नगेन्द्र—हमारे यहाँ मानव-जीवन की दो मौलिक वृत्तियाँ मानी गयी हैं, राग और द्वेष। इन्हीं के अनुसार हमारे साहित्य में शृंगार और करुण को महत्त्व मिला है। भारतीय मन या तो पूर्णरूप से रागी रहा है और या फिर एकदम वैरागी हो गया है। दोनों के बीच में समझौता करना उसे अधिक नहीं भाया है। इसलिए उसने हर्ष को ही महत्त्व दिया है, हास्य से उसे संतोष नहीं हुआ। जीवन में उसने हर्ष को ही लक्ष्य बनाया है और यदि उसमें व्याघात पड़ा है तो वह उससे विरक्त होकर उसे त्याग ही बैठा है। गंभीर प्रकृति का मनुष्य कुण्ठित होने पर ठोकर मारना पसन्द करेगा, हँसेगा नहीं।

प्रो०—आपका कहना ठीक है, हँसने के लिए रुक्ष और व्यावहारिक प्रकृति की आवश्यकता होती है—गम्भीर भावुक

प्रकृति उसके प्रतिकूल पड़ती है। अंग्रेज विशेषकर स्कॉच जितने सहज भाव से और खुल कर हँस सकता है उतना अन्य देशवासी नहीं और ठीक इसी कारण जर्मन और भारतीय जातियों में हास्य-वृत्ति अपेक्षाकृत बहुत ही क्षीण है।

अंग्रेज कवि शेक्सपियर जीवन की यातनाओं और विकलताओं का आघात पाकर सघन से सघन वातावरण में भी हँस सकता था। आप उसके दुःखांत नाटकों को ही लीजिए—उस व्यक्ति में इतनी शक्ति है कि वह गहन से गहन परिस्थितियों में भी हँस सकता है—उसका दृष्टिकोण इतना प्रकृतिस्थ, स्वस्थ और दृढ़ है कि न तो शोक की सघनता और न हर्ष की उत्फुल्लता ही उसको चंचल कर सकती है। वह जीवन की व्यावहारिकता अथवा गतिशीलता के प्रति इतना आश्वस्त है कि उसके मार्ग में आनेवाली प्रत्येक बाधा का वह उपहास करता है—वह बाधा चाहे भावात्मक हो या अभावात्मक—प्रेम की अतिशय गंभीरता पर भी वह उसी प्रकार हँसता है जिस प्रकार शोक की जड़ता पर; परन्तु भारतीय कवि भवभूति या जर्मन कवि गेटे के लिए ऐसी परिस्थितियों में चित्त की पूर्ण विद्रुति या आत्मा का घोर आक्रोश ही संभव है।

परन्तु अब तक हम मौलिक कारणों का ही विश्लेषण करते रहे हैं—इनके अतिरिक्त प्रासङ्गिक कारण भी अनेक हैं।

नगेन्द्र—प्रासङ्गिक कारणों से क्या मतलब ?

प्रो०—अर्थात् वे कारण जिनका हिन्दी भाषा और साहित्य से सीधा संबंध है। उदाहरण के लिए हिन्दी के जन्म और विकास की परिस्थितियों को ही लीजिए, जिन सघन और निविड़ परिस्थितियों में उनका जन्म और विकास हुआ है, उनमें हँसाने और हँसने का अवकाश नहीं रहा—उनमें केवल गंभीर साहित्य

की सृष्टि ही सहज और सरल थी। प्रसाद जी ने हिन्दी में हास्य के अभाव का यही मुख्य कारण बताया है। वे कहते हैं कि हास्य मनोरंजिनी वृत्ति का विकास है—परन्तु हमारी जाति शताब्दियों से पराधीन और पद-दलित है; इसलिए हमें हँसने का अवकाश ही नहीं है। वास्तव में वीर-गाथा और भक्ति युगों में तो उसके लिए स्थान ही कहाँ था—पहले में परिस्थिति की सघनता और दूसरे में भावना का अतिशय उद्रेक—दोनों ही हास्य के प्रतिकूल पड़ते थे।

हाँ, रीति-युग में आकर जब कविता का दरबार से सम्बन्ध स्थापित हो गया था, तब यह आशा की जा सकती थी कि आश्रय-दाताओं के मनोरंजन के लिए कवि-जन हास्य की भी उद्बुद्धि करते; परन्तु आप देखें कि इस युग में हास्य का और भी अधिक अभाव है। इसका कारण यह है कि निर्मल हास्य सदैव स्वस्थ दशा में ही संभव है। रीति-युग में हमारा समाज मन और शरीर दोनों ही से रुग्ण था—राजा लोगों का, सम्पन्न सामाजिकों का रोगी मन स्वस्थ निर्मल हास्य की अपेक्षा शृंगार की चुहल को ही अधिक पसंद करता था। आधुनिक युग में आकर परिस्थिति फिर गम्भीर और सघन हो गयी। इस प्रकार हमारे साहित्य की परिस्थितियाँ भी हास्य के सर्वथा प्रतिकूल रही हैं।

नगेन्द्र—परन्तु यहाँ एक आपत्ति हो सकती है। वह यह कि उर्दू-साहित्य का विकास भी तो प्रायः इन्हीं परिस्थितियों में हुआ है। फिर क्या कारण है कि उसका हास्य काफी समृद्ध है।

प्रो०—इसके मेरे पास दो उत्तर हैं—एक तो यह कि परिस्थिति एकमात्र कारण नहीं होती, वह अनेक कारणों में से एक हो सकती है, दूसरे उर्दू और हिन्दी की परिस्थितियाँ बाहर से एक सी-लगती हैं, अन्दर से उनमें काफी अन्तर है। उर्दू

विजेताओं की भाषा थी, हिन्दी विजितों की। उर्दू बाजार और मजलिसों की भाषा रही है, हिन्दी जनता के हृदय की। स्वभावतः उर्दू में शोखी और चटक अधिक है, और दोनों हास्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त दोनों की पृष्ठ-भूमियाँ तथा परम्पराएँ कितनी भिन्न हैं। उर्दू को फारसी की परम्पराएँ प्राप्त हुई हैं और फारसी में सूक्ष्म और परिष्कृत हास्य की कमी नहीं है, और फिर हमारे और उर्दू वालों के सामाजिक जीवन में कितना अन्तर है। क्लब-लाइफ जितनी अच्छी उर्दूवालों की रही है उतनी हम लोगों की आज भी नहीं है।

नगेन्द्र—यानी आपका निष्कर्ष यह है कि हिन्दी की प्रकृति ही गंभीर है, इसलिए उसमें हास्य का अभाव है।

प्रो०—हाँ, उसकी प्रकृति ही नहीं, वरन् उसकी परम्पराएँ, उसकी परिस्थितियाँ, उसके बोलने वालों की जीवन-दृष्टि आदि सभी गम्भीर हैं। लेकिन अब प्रश्न यह है कि यह कमी पूरी कैसे हो?

नगेन्द्र—साहित्य के अभाव प्रयत्न करके पूरे नहीं होते। उनकी जड़ें गहरी होती हैं। उनका सम्बन्ध जाति के संस्कारों से होता है। सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन से जाति के संस्कारों में परिवर्तन होने पर ही यह सम्भव हो सकता है। जीवन की विषमताओं से रगड़ खाकर भारतीयों का दृष्टिकोण जब आध्यात्मिक कम और व्यावहारिक अधिक हो जायगा, आदर्श के भावमय स्वप्न न देखकर जब हम व्यवहार की रुक्षता के अभ्यस्त हो जायँगे, स्वभावतः ही हमारे अन्दर हास्यवृत्ति का विकास हो जायगा। तभी हमारे साहित्य से भी हास्य का यह अभाव दूर हो जायगा।

अध्ययन

प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने हिन्दी में हास्यरस के अभाव के कारणों का व्यापक विश्लेषण किया है। इस अभाव के कारण की जड़ को लेखक ने भारतीय दर्शन की मूल चेतना में जाकर ढूँढ़ा है। संवाद-शैली आलोचना-जैसे गंभीर साहित्यिक रूप को रोचक बनाने में सहायक हुई है।

प्रोद्भास=स्वाभाविक प्रसन्न अभिव्यक्ति। सूक्ष्मचेता=जिनकी चेतना बहुत सूक्ष्म हो, सूक्ष्मता व गम्भीरता से तथ्य का मर्म ढूँढ़नेवाले। तिरोहित=लुप्त। अनुस्यूत=जुड़ी हुई, सिली हुई। व्याघात=बाधा, व्यवधान। प्रकृतिस्थ=स्वाभाविक। विद्रुति=तरलता, प्रसन्नता। आक्रोश=क्रोध, उत्ताप।

प्रश्न

१—डॉ० नगेन्द्र की गद्य-शैली की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

२—हिन्दी में हास्य रस के अभाव के क्या कारण लेखक ने प्रस्तुत किये हैं? संक्षेप में बताइए।

परमाणु शक्ति का भविष्य

[*भगवती प्रसाद श्रीवास्तव*]

अमेरिकन परमाणु बम के आविष्कार ने शक्ति के अपरिमित स्रोत को अपने वश में कर लिया है। सभी इंजीनियर तथा वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार कर रहे हैं कि अगस्त सन् १९४२ से शक्ति का नवीन युग—परमाणु-युग आरम्भ हो चुका है। इसमें संदेह नहीं कि परमाणु-युग में आश्चर्य-जनक सम्भावनाएँ निहित हैं।

परमाणु-शक्ति के बारे में कुछ जानकारी हासिल करने के पूर्व हमें परमाणुओं की बनावट का भी ज्ञान प्राप्त करना होगा। परमाणु वास्तव में मूल-तत्त्वों के अत्यन्त ही नन्हें कण होते हैं जिन्हें बढ़िया से बढ़िया अणुवीक्षण यन्त्रों की मदद से भी हम देख नहीं सकते। परमाणुओं के आकार का अनुमान आप एक उदाहरण से लगा सकते हैं—यदि एक सन्तरे का आकार बढ़ाकर उसे पृथ्वी के बराबर बना दिया जाय, तो सन्तरे के अन्दर के परमाणु एक गेंद के बराबर दीखेंगे। सुई की नोक में कई करोड़ परमाणु विद्यमान हैं।

किन्तु परमाणु स्वयं भी अन्य क्षुद्र कणों द्वारा बना है। प्रत्येक परमाणु छोटे पैमाने के सौरमण्डल सरीखा है जिसमें केन्द्रपिण्ड के चारों ओर अन्य कण ग्रहों की तरह परिक्रमा लगाते हैं। केन्द्रपिण्ड, प्रोटान (धनात्मक विद्युत्-कण) और न्यूट्रान (विद्युत्-विहीन कण) द्वारा निर्मित होता है और ऋणात्मक कण (एलेक्ट्रान) केन्द्रपिण्ड के चारों ओर घूमते रहते हैं। अतः यह एक गौर करने योग्य बात है कि परमाणु के अन्दर ढेर-सी जगह

बिल्कुल खाली रहती है। परमाणु के कण स्वयं बहुत कम जगह घेरते हैं। परमाणु के अन्दर ये कण एक दूसरे को तीव्र शक्ति से आकृष्ट करते हैं। इसीलिए परमाणु के इन कणों को आसानी के साथ पृथक् नहीं किया जा सकता। इन्हें पृथक् करने के लिए विद्युत-कणों की तीव्रतम बौछार परमाणु पर डालनी होती है।

सन् १९१९ में ब्रिटिश वैज्ञानिक स्वर्गीय लार्ड रदरफोर्ड ने सर्वप्रथम परमाणु के अवयवों को अलग किया था—परमाणु के अन्दर संचित शक्ति का इसी अवसर पर वैज्ञानिकों को पहली बार अन्दाज लगा। तदुपरान्त परमाणु-भेदन के निमित्त विभिन्न देशों में अनुसन्धान किये जाने लगे। इस क्षेत्र में अमेरिका के प्रोफेसर लारेन्स को विशेष सफलता मिली है। आपने 'साइक्लोट्रान' नामक एक विशालकाय चुम्बक-यन्त्र तैयार किया है जिसका वजन २३०० मन है। इस चुम्बक की आकर्षण शक्ति के बल से विद्युत-कण वृत्ताकार परिधि में कई बार चक्कर लगाते हैं। प्रत्येक चक्कर में इन विद्युत्-कणों की रफ्तार बढ़ जाती है—अन्त में एक खिड़की के रास्ते से ये विद्युत्-कण निकल कर शीशे की नली में रक्खे हुए पदार्थ के परमाणुओं के भीतर घुसकर केन्द्रपिण्ड से जा टकराते हैं। और उसके कतिपय अवयवों को पृथक् कर देते हैं। अब तक धनात्मक विद्युत् कण (प्रोटान) ही परमाणु-भेदन के लिए इस्तेमाल किये जाते थे। प्रोटान तथा केन्द्रपिण्ड दोनों ही में धनात्मक-विद्युत् होती है। अतः इनके बीच जबर्दस्त हटाव होता है। इस हटाव के बल पर विजय प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि प्रोटान की रफ्तार खूब तेज हो।

सन् १९३४ में ब्रिटिश वैज्ञानिक चैडविक ने परमाणु-केन्द्र में 'न्यूट्रान' कणों की उपस्थिति का पता लगाया। न्यूट्रान में

विद्युत्-चार्ज नहीं होता है, यद्यपि इसका वजन प्रोटान के बराबर ही होता है। न्यूट्रान की खोज ने परमाणु-वैज्ञानिकों के हाथ में मानो एक नये किस्म का कारतूस दे दिया। न्यूट्रान की बौछार आसानी से परमाणु के केन्द्रपिण्ड से भिड़ सकती है; क्योंकि न्यूट्रान और केन्द्रपिण्ड के बीच किसी प्रकार का हटाव बल नहीं काम करता।

सन् १९३८ तक लोग विभिन्न तत्त्वों के केन्द्रपिण्डों से एकाध अवयव को पृथक् करने में सफल हो पाये थे; किन्तु सन् १९३९ में दो प्रमुख जर्मन वैज्ञानिकों डॉ० आटोहान और डॉ फ्रिट्ज स्ट्रासमन ने प्रयोगों के सिलसिले में महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान इस क्षेत्र में किये। उन्होंने दिखलाया कि यूरैनियम परमाणुओं को यदि मंदगामी न्यूट्रान-कणों से भेदा जाय तो यूरैनियम केन्द्र-पिण्ड दो मुख्य भागों में टूट जाता है, जो वास्तव में बैरियम और क्रिप्टन तत्त्वों के परमाणु होते हैं—इस विभाजन से क्रिया में अपार शक्ति भी उत्पन्न होती है। साथ ही इस विभाजन-क्रिया में प्रत्येक यूरैनियम परमाणु के केन्द्रपिण्ड से दो नये न्यूट्रान निकलते हैं। लगता ऐसा है कि ये अन्य केन्द्र-पिण्डों को उसी भाँति भेद सकने की क्षमता रखते हैं; किन्तु वास्तव में ये तीव्रगामी होने के कारण केन्द्रपिण्ड के विभाजन में असमर्थ होते हैं। अतः परमाणु-केन्द्र के तोड़-फोड़ की शृंखला जारी रखने के लिए आवश्यक है कि न्यूट्रान की गति को धीमी करने का प्रबन्ध किया जाय। अनुसन्धानों के सिल-सिले में वैज्ञानिकों ने मालूम कर लिया कि मोम द्वारा न्यूट्रान की गति को कम किया जा सकता है।

इस युद्ध के दौरान में अमेरिका में विभिन्न देशों के प्रमुख वैज्ञानिकों की टोली ने तीन वर्ष के अन्दर-अन्दर परमाणु-शक्ति

को वश में करने का गुर मालूम कर लिया। इस योजना में लगभग १९० लाख डालर खर्च हुए थे। १६ जुलाई, सन् १९४५ को परमाणु-शक्ति से परिचालित बम की परीक्षा न्यूमैक्सिको के रेगिस्तान में की गयी। सशंकित मन से और धड़कते हुए हृदय से वैज्ञानिकों और इंजीनियरों ने इस्पात के बने ऊँचे स्तम्भ पर परमाणु-बम को रखा और ६ मील की दूरी से विद्युत्स्विच द्वारा उसे विस्फोट कराया गया। विस्फोट का जो विवरण प्रकाशित हुआ उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है:—

"विस्फोट के निश्चित समय के २ मिनट पूर्व सभी व्यक्ति स्तम्भ की ओर पैर करके लेट गये थे। सभी लोगों ने अपनी आँखों को चकाचौंध से बचाने के लिए गाढ़े रंग के चश्मे लगा लिये थे।

"विस्फोट के समय एक तीव्र प्रकाश से समस्त वायुमण्डल जगमगा उठा....तदुपरान्त एक जबर्दस्त धड़ाके की आवाज हुई तथा हवा में विस्फोट के धक्के के जोर से ६ मील के दायरे के बाहर खड़े हुए दो व्यक्ति धराशायी हो गये। फौरन ही इसके उपरान्त रंगीन प्रकाश से आलोकित एक धुएँ का बादल ८ मील की ऊँचाई तक चढ़ गया—इस्पात का स्तम्भ विस्फोट के ताप से पूर्णतया वाष्परूप में परिणित हो गया। स्तम्भ की जगह ज्वालामुखी के क्रेटर की तरह एक गड्ढा बन गया।"

मानव-इतिहास में पहली बार परमाणुओं के अन्दर निहित अपरिमित शक्ति को मुक्त करने में मनुष्य सफल हुआ है। अकेला एक परमाणु-बम कई हजार विशालकाय टी० एन० टी० बमों से भी अधिक ध्वंसकारी होता है। हिरोशिमा नगर पर जब परमाणु-बम गिराया गया तो बम के विस्फोट से इतनी अधिक उष्णता उत्पन्न हुई कि जो लोग घरों के बाहर थे वे एकदम झुलस गये यहाँ तक कि मृत शरीर को देखकर स्त्री-पुरुष की पहचान

करना भी कठिन हो गया था। घरों के भीतर लोग उष्णता और वायु की विस्फोटन-तरंगों के आघात से मरे। जिस ठौर बम गिरा था वहाँ से तप्त धुएँ का स्तम्भ ७॥ मील ऊँचा आकाश में उठा था। ९ मील के घेरे में तमाम मकान धराशायी हो गये। अनुमान किया जाता है कि जापान पर गिराये गये दो परमाणु बमों ने २ लाख जापानियों को मृत्यु के घाट उतारा।

परमाणु-बम के आविष्कार ने मानव के हाथों में एक ऐसी दानवी शक्ति प्रदान की है जिसकी सहायता से संसार को वर्णनातीत हानि या लाभ पहुँचाया जा सकता है। इसी कारण सभी विचारशील व्यक्ति इस दानवी शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगा सकने के लिए विशेष आतुर हैं। स्वयं चोटी के वे वैज्ञानिक भी जिन्होंने परमाणु-बम के निर्माण में अपने बहुमूल्य अनुसन्धानों द्वारा सहायता पहुँचायी है, परमाणु-शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना से चिन्तित हैं। फिर राकेट परमाणु-बम का निर्माण भी निकट भविष्य के लिए असम्भव नहीं है। इस श्रेणी के राकेट बम को हजारों मील दूरी से रेडियो तरंगों की मदद से नियन्त्रित किया जा सकता है। फिर तो ये राकेट परमाणु-बम किसी भी देश को चन्द सेकेण्ड में निस्तनामूद कर सकते हैं।

अमेरिका और इंगलैण्ड के वैज्ञानिकों ने संयुक्त घोषणा निकाली है कि परमाणु सम्बन्धी अनुसंधानों का इस्तेमाल केवल रचनात्मक कार्यों के लिए ही किया जाय। ब्रिटेन के प्रमुख वैज्ञानिक प्रो० आलिफैण्ट ने परमाणु-शक्ति के रचनात्मक प्रयोग पर यथार्थ प्रकाश डाला है। इनका ख्याल है कि यह योजना सम्भवतः चार स्टेजों में पूरी की जा सकेगी। प्रथम परमाणुओं को छिन्न-भिन्न करके उनसे शक्ति प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय पावर-हाउस बनाने पड़ेंगे। पावर-हाउस में परमाणु-शक्ति द्वारा विद्युत्

...को बात

...ीक्षक ...में दिये गये ...पदम तरह-तरहकी चर्चायें हैं।

पता चला है कि पुलिस अधीक्षकने विगत दिनों दक्षिणांचलमें कहा कि जिन गांवोंमें डकैती पड़ेगी, यदि डकैत गोली चलाते हैं, या किसी व्यक्तिकी हत्याका प्रयास करते हैं तो उपस्थितमें उन गावोंके लाइसंसी बन्दूक और रिवाल्वर धारी विरोध स्वरूप यदि गोली नहीं चलाते हैं तो उनके लाइसेन्स निरस्तकर दिये जायेंगे। पुलिस अधीक्षकके इस वक्तव्यपर लोगोंका कहना है कि कप्तान साहबको ऐसा

ही आदेश ... करना चा... कचहरीमें ... व्यक्तिकी ह... मौकेपर सै... पुलिसकर्मी ... जनताकी र... छिपे। हत्या...

आम नग... पुलिसकर्मियों... नौकरीके पू... दिलाई जाती

पुलिस और अ...

वाराणसी। वाराणसी परिक्षेत्रके उपमहा निरीक्षक श्री जे. पी. राय ने कहा है कि जनता और पलिसके बीच बढ़ती दरीके लिए बिचलौयों (दलालों) की गतिविधियों पर अंकश लगाना जरूरी हो गया है। नये वर्षमें ...र पलिस कर्मियोंकी गिरोह ...रहेगा। आज जनता ...के वहिष्कारकी ...और पलिसके ...नेकरीब ...क्षेत्रों में

कहनेका मौ... बिचौलियोंकी ... खद ब खद हतो... गड़बड़ पलिस... खलासा होता ... पड़ेंग।जनता ... सधरेंगे। पलिस... ही दलाल (बि... करते हैं। यह ग...

रैलि...

लोग वसूलीके लिए उसे
का कहना है कि अब वह
हीं आता।

बताया जाता है कि थाना प्रभारी श्री निहाल
प्रसाद घटनाके बादसे ही सक्रियकता पूर्वक
इस कार्यमें गये हुए थे और अन्तमें उन्हें
सफलता मिल गयी।

...खर रही

...लस कर्मियोंपर भी लागू
...योंकि विगत दिनों भरी
...हाड़े कुछ बदमाश एक
...के फरार हो गये। उस
... संख्यामें शस्त्रोंसे लैस
...रेका मुंह ताकते रह गये।
...लेवे खुद इधर-उधर जा
...द वे वहां पहुंचे।

... कहीं ज्यादा जिम्मेदारी
... क्योंकि पुलिस विभागमें
... उन्हें जनसेवाकी शपथ

विद्युत विभागसे लोग त्रस्त हैं

मड़ियाहू (जौनपर)। मड़ियाहूं कस्बा क्षेत्रमें लाईन इंसपेक्टरकी धांधलीके चलते विद्युत कनेक्शन और लाइनका जालविछा दिया गया है।जिससे वैधानिक ढंगसे कनेक्शन प्राप्त करनेवाले उपभोक्ता बुरी तरह परेशान है।

पता चला है कि लाइनका काटना और कुछ घंटोंमें ही पुन: जोड़ना एक दैनिक प्रक्रिया हो गई ।ऐसे आवांछनीय जनविरोधी कार्योंसे व्यापक असंतोष फैल रहा है। मांगकी है कि भ्रष्ट अधिकारीयों एवं कर्मचारियोंका तुरन्त स्थानान्तरण यिका जाय।

अ...

जौन...
इन दिन...
रहा है...
गलियोवं...
अवैधनि...

यह ...
ठेला गाड़...
बना रह...
आशंका ...

पता च...
मिश्राना मुहल्लका जोड़ने वाले एक...
पर एक व्यक्ति द्वारा अवैध ढंगसे नि...
लिए जानेके परिणाम स्वरूप मार्ग...
गया है उक्त मार्ग पर पड़ने वाले कु...
उसने निर्माण कर लिया है। इस ...
नागरिकोने परगनाधिकारीसे शिक...
थी परन्तु अभी तक कोई कार्यवाही...

...के बिचौलियोंकी गिरोह बंदी तोड़नेसे ह...

...रहेगा। इस स्थितिमं
...त नहीं पड़गी। बिचौलिये
...हित हो जायेंगे। कतिपय
...र्मियोंकी हरकतोंका भी
...गा। वे भी थोड़ा ठंडे
...र पुलिसके बीच संबंध
...अनावश्यक भय दिखाकर
...) अपना उल्लू सीधा
...खत्म हो जायेगी इसके

जानकारी तो हो जायेगी। इसका फायदा यह होगा कि अनावश्यक गलतफहमी एक दूसरेके प्रति नहीं रहेगी।

पुलिसकी मनमानीके एक प्रश्नके जवाबमें श्री रायने कहा कि हर जगह स्वार्थ छिपा रहता है। घूस देने वाला और लेने वाले दोनोंका ही दोष है यदि जनता अपने उलटे सीधे कार्योंके लिये पुलिसको अनावश्यक न

कतिपय पुलिस कर्मियों और दलालो...
पर असर पडेगा। क्योंकि...
मिलने-जुलनेकी गुंजाइश ही खत्म ...
उन्होंने नये वर्षमें दलालों और पुलि...
बंदीको खत्म करनेके लिए और अ...
कदम उठाये जायेंगे जिसकी जानक...
दी जायेगी।

पुलिस द्वारा धारा १५१ के द...

...जनता-पुलिसके बीच पुलका काम करेगी

...लिस और जनता दोनोंको
...पड़गी।

महत्वदे तो कुछ बात बन सकती है।
उदाहरणके तौर पर दीवानीके मामलेका ही

संवालके जवाब में श्री रायने बताया...
उपयोग विशेष परिस्थितियों खास...